Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

॥ ओ३म् ॥

867

अध्यात्म-रहस्य

अर्थात्

ईशोपनिषद्

लेखक

वे० शा० स्वामी वेदानन्द (दयानन्द) तीर्थ

अनुवादक तथा सम्पादक

परमहंस स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती

गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली

Adv. Vidit Chauhan Collection, Noida

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

Adv. Vidit Chauhan Collection, Noida

॥ ओ३म् ॥

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

अध्यात्मक-रहस्य

अर्थात्

ईशोपनिषद्

लेखक

वे० शा० स्वामी वेदानन्द (दयानन्द) तीर्थ

अनुवादक तथा सम्पादक

परमहंस स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती

गोविन्दराम हासानन्द

Adv. Vidit Chauhan Collection, Noida

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

प्रकाशक :
गोविन्दराम हासानन्द
आर्य साहित्य भवन,
४४०८, नयी सड़क,
दिल्ली-११०००६

संस्करण : १९८२

सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

मूल्य : ४·५०

मुद्रक :
अजय प्रिंटर्स
नवीन शाहदरा, दिल्ली-११००३२

Adv. Vidit Chauhan Collection, Noida

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

सम्पादकीय

स्वामी वेदानन्द (दयानन्द) तीर्थ वैदिक साहित्य के धुरन्धर विद्वान् थे; वैदिक साहित्य का उन्होंने खूब अवगाहन किया था। वेद, दर्शन, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, स्मृति, पुराण, गृह्यसूत्र, श्रौतसूत्र—सभी का आपने मनोयोगपूर्वक अध्ययन किया था। आप अनेक भाषविद् भी थे। संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी, उर्दू, फारसी, अरबी—इन भाषाओं पर तो आपका असाधारण अधिकार था। फ्रैंच, जर्मन, रशियन, बंगला आदि भाषाओं का कामचलाऊ ज्ञान भी था।

वेद आपका प्रिय विषय था। वेद पर आपने प्रभूत परिश्रम किया था। आप मूल वेद से ही मन्त्रों का अर्थ करने की क्षमता रखते थे। जहाँ आपका पाण्डित्य अगाध था, वहाँ आपके ऊपर परमात्मा की कृपा भी थी। इसी प्रभुकृपा के फलस्वरूप आपने वेदमन्त्रों के रहस्यों को खोला था। आपके द्वारा लिखित 'योगोपनिषद्', 'ब्रह्मोद्यउपनिषद् [वैदिक प्रश्नोत्तर] आदि ग्रन्थ इस तथ्य के साक्षी हैं।

लगभग बयालीस वर्ष पूर्व स्वामीजी महाराज ने 'ईशोपनिषद्' की व्याख्या 'रमूजे मारिफ़त [आध्यात्मक रहस्य] नाम से की थी। उसी पुस्तक का हिन्दी अनुवाद प्रथम बार पाठकों के सामने स्वामीजी महाराज की पच्चीसवीं पुण्यतिथि [रजत जयन्ती] के अवसर पर उपस्थित है।

ईशोपनिषद् यजुर्वेद का चालीसवाँ अध्याय है। यह जहाँ वेद का ही एक भाग है, वहाँ सारे उपनिषदों का मूल भी है। अध्यात्म के सभी रहस्यों का इसमें समावेश है। इस ग्रन्थ का स्वाध्याय करने से जहाँ आपका परलोक बनेगा वहाँ इस संसार में भी सुख, शान्ति और आनन्द का जीवन व्यतीत कर सकेंगे।

वेद सदन
माडल टाउन,
दिल्ली-९
श्रावणी १९८२

शुभ कामनाओं सहित
जगदीश्वरानन्द सरस्वती

Adv. Vidit Chauhan Collection, Noida

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

विषय-सूची

१. सर्वव्यापक, सर्वशासक परमेश्वर ...
२. कर्म करने का आदेश—आत्मसमर्पण ...
३. आत्मघात का फल ...
४. ईश्वर का स्वरूप ...
५. आत्मज्ञान से संशयनाश ...
६. ब्रह्मज्ञान से मोह और शोक का नाथ ...
७. ईश्वर का स्वरूप ...
८. ईश्वर से भिन्न की उपासना का फल ...
९. कर्म और ज्ञान ...
१०. संसार की नश्वरता ...
११. प्रार्थनापूर्वक आत्मसमर्पण ...
१२. आत्मसमर्पण का फल—ब्रह्मसाक्षात्कार ...

Adv. Vidit Chauhan Collection, Noida

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

ईशोपनिषद्

सर्वव्यापक, सर्वशासक परमेश्वर

ओ३म् । ईशावास्यमिद ँ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥१॥

शब्दार्थ—**यत्** जो **किम् च** कुछ **जगत्याम्** इस गतिशील संसार में **जगत्** गति करता है, **इदम्** यह **सर्वम्** सब **ईशा** ईश्वर से, सारे संसार के स्वामी से **आवास्यम्** सब ओर से ढका हुआ और बसा हुआ है। **तेन** उस स्वामी के **त्यक्तेन** दिये हुए का **भुञ्जीथाः** तू भोग कर। **मा** मत **गृधः** लालच कर। **धनम्** धन **कस्य+स्वित्** किसका है? अर्थात् किसी का नहीं है। अथवा **कस्य स्वित्** किसी के **धनम्** धन का **मा** मत **गृधः** लालच कर।

व्याख्या—यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय और ईशोपनिषद् में बहुत थोड़ा अन्तर है। ईशोपनिषद् में कण्व ऋषि ने ब्रह्मविद्या को समझाने के लिए अपनी ओर से कुछ परिवर्तन-परिवर्धन किया है। यह ईशोपनिषद् सारे उपनिषदों का मूल है। उपनिषद् ब्रह्मविद्या के भण्डार माने जाते हैं। सब उपनिषदों का मूल होने से यह उपनिषद् ब्रह्मविद्या का मूल सिद्ध होती है।

जो लोग यह कहा करते हैं कि वेदों में केवल कर्मकाण्ड ही है और यजुर्वेद तो है ही यज्ञों और कर्मकाण्ड का ग्रन्थ, उनके मत का यह उपनिषद् मानो प्रबल निराकरण है, क्योंकि यह ब्रह्मविद्या का उपदेश करती है।

यजुर्वेद में विभिन्न प्रकार के कर्मों का वर्णन करने के पश्चात् उनतालीसवें अध्याय में मृत्यु तथा अन्त्येष्टि कर्म का वर्णन किया है।

Arya Vidya Chakshu Collection, Noida

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

जब किसी की मृत्यु होती है तो उसकी अर्थी के साथ जानेवालों के मन में संसार की निःसारता का विचार उत्पन्न होता है और वे सोचते हैं कि कल जो व्यक्ति उछल-कूद कर रहा था, जो अपने स्वजनों तथा बन्धु-बान्धवों की प्रसन्नता की सामग्री एकत्र कर रहा था, आज उसे क्या हो गया है ? आज तो वह स्वयं गति भी नहीं कर सकता। सहसा ही उनके मन में परमात्मा की अपार सामर्थ्य और अनन्त शक्ति का आभास होने लगता है और वे कह उठते हैं—**ईशावास्यमिदं सर्वम्**—यह सारा संसार ईश्वर से व्याप्त है। उन्हें ईश्वर शासक के रूप में दृष्टिगोचर होता है, ऐसा शासक जो संसार में सर्वत्र विद्यमान है, कोई काल और कोई स्थान ऐसा नहीं जब और जहाँ वह विद्यमान न हो। इन्हें संसार के अणु-अणु और कण-कण में उस सारे संसार के स्वामी का अस्तित्व, उसकी अपार शक्ति तथा उसके शासन का भान होने लगता है। सारा संसार गतिशील है और निरन्तर गति कर रहा है परन्तु इन्हें इस गति में भी ईश्वरीय संकेत, परमेश्वर के नियम और व्यवस्था काम करते दिखाई देते हैं। वे अनुभव करते हैं कि जड़ पदार्थ में अपने आप गति नहीं हो सकती, इस गति को देनेवाला कोई और होना चाहिए जो चेतन और विवेक-शक्ति से युक्त हो, साथ ही वह सर्वत्र विद्यमान हो तथा सबका शासक हो।

संसार के पदार्थों पर एक दृष्टि डालिए। पृथिवी गतिशील है, चन्द्रमा में गति है, सूर्य में भी गति है। जीवात्मा भी गति करता है। सीमित, सीमित बुद्धि और सीमित साधनवाला होने के कारण उसे अपनी मनपसन्द वस्तुओं को प्राप्त करने के लिए गति=चेष्टा करनी पड़ती है। तात्पर्य यह कि क्या जड़ और क्या चेतन सभी गति में हैं। विचारशील मनुष्य को यह अनुभव होने लगता है कि समस्त वस्तुओं में वह भगवान् व्यापक है। वह इनके अन्दर भी है और बाहर भी और साथ ही इनपर शासन भी करता है। वह इन सबको नियम से, एक विशेष व्यवस्था में चला रहा है।

जब साधक को यह अनुभव होने लगता है कि यह सब परमात्

Adv. Vidit Chauhan Collection, Noida

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

की सम्पत्ति है, तब वह इस संसार पर से अपना स्वत्व=अधिकार छोड़ देता है। वह अपने आपको भी परमात्मा के भरोसे छोड़ देता है। वह मानने लगता है कि परमात्मा सबके भोग के अनुसार देता ही है और भोग से अधिक किसी को मिलता नहीं तो मैं किसलिए दूसरे का अधिकार छीनूँ, क्यों बेईमानी, अन्याय और क्रूरता से काम लूँ। वह पुरुषार्थ करता है परन्तु उसके परिणाम=फल की ओर से निश्चिंत हो जाता है। जब उसे विश्वास हो जाता है कि अपना भोग उसे अवश्य और निश्चय ही मिलेगा तो फिर उसमें लोभ की मात्रा भी नहीं रहती। किसी के धन को छीनने अथवा छल-बल और अन्याय से उसपर अधिकार करने का विचार तक छोड़ देता है।

धन शब्द का अर्थ सम्पत्ति अथवा जीवन-सामग्री होता है। यदि एक ओर रुपया, पैसा और सम्पत्ति हो और दूसरी ओर अपने शरीर का प्रश्न तो स्वाभाविक रूप से मनुष्य अपनी धन-सम्पत्ति का बलिदान करके भी अपने जीवन को बचाने का प्रयत्न करता है। इसका अर्थ यह हुआ कि शरीर या जीवन प्राणी का बहुमूल्य धन है। इस सिद्धान्त के अनुसार मन्त्र के अन्तिम खण्ड=टुकड़े का यह अर्थ भी होता है कि किसी प्राणी के जीवन-धन की इच्छा मत कर अर्थात् किसी का जीवन=जान मत ले। दूसरे शब्दों में इस टुकड़े से 'अहिंसा' का उपदेश मिलता है अर्थात् साधक या जिज्ञासु को ब्रह्मविद्या के मन्दिर में पग रखने से पूर्व दृढ़ आस्तिक और अहिंसक बनना चाहिए।

संक्षेप से इस मन्त्र में निम्न बातों का संकेत किया गया है—

१. इस संसार की सभी वस्तुएँ गतिशील हैं।
२. परमात्मा इन सबके अन्दर और बाहर व्यापक है।
३. समस्त जड़ पदार्थ परमात्मा के अधिकार में हैं, वह इन सबका स्वामी है।
४. वह परमेश्वर सब प्राणियों को उनके भोग के अनुसार देता है, इसलिए मनुष्य को सन्तोषी होकर उसपर ही निर्वाह करना चाहिए।
५. दूसरों की धन-सम्पत्ति का लालच नहीं करना चाहिए।
६. किसी प्राणी की हत्या नहीं करनी चाहिए।

Adv. Vidit Chauhan Collection, Noida

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

कर्म करने का आदेश—आत्मसमर्पण

ओ३म् । कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत ँ समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।।२।।

शब्दार्थ—**इह** इस संसार में **कर्माणि** कर्मों को **कुर्वन्** करता हुआ **एव** ही मनुष्य **शतम्** सौ **समाः** वर्ष **जिजीविषेत्** जीने की इच्छा करे, **एवम्** इस प्रकार **त्वयि** तुझ **नरे** नर में, मनुष्य में **कर्म** कर्म **न** नहीं **लिप्यते** लिप्त होता **इतः** इससे **अन्यथा** दूसरा उपाय **न** नहीं **अस्ति** है ।

व्याख्या—ब्रह्मविद्या का मूल सिद्धान्त प्रथम मन्त्र में संक्षेप में कह दिया गया । अगले मन्त्रों में उसकी व्याख्या और भाष्य है । सच पूछो तो प्रथम मन्त्र का भी इतना ही भाग—**ईशा वास्यमिद ँ सर्वम्**—[यह सब कुछ ईश्वर से व्याप्त है] ब्रह्मविद्या का सार और तत्त्व है । जिस मनुष्य को यह विश्वास हो जाए कि इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के अन्दर-बाहर ईश्वर है, वह पाप कैसे करेगा ? ब्रह्मविद्या का मुख्य प्रयोजन ईश्वर की सर्व-व्यापकता का ज्ञान कराना है । इस मन्त्रखण्ड में इस बात को असन्दिग्ध और स्पष्ट शब्दों में वर्णित किया गया है । इस मन्त्रखण्ड में दो शब्द आये हैं—**इदम्** और **सर्वम्**—यह सब । इनकी व्याख्या है—**यत्किंच जगत्यां जगत्**—जो कुछ इस गतिशील ब्रह्माण्ड में गति कर रहा है अर्थात् जड़ और चेतन ।

प्रथम मन्त्र के उत्तरार्द्ध में उपदेश है—

उसके दिये हुए का भोग कर । जब ईश्वर सब वस्तुओं के अन्दर-बाहर है और वह उनका ईश्वर=शासक और स्वामी है, तब उसी का दिया खाना चाहिए । प्रत्येक जीव को वह उसके भोग के अनुसार देगा ही, फिर मनुष्य क्यों काम करे । सन्तजन कह भी गये हैं—

अजगर करे न चाकरी पञ्छी करे न काम ।
दास मलूका कह गये सबके दाता राम ।।

Adv. Mukt Chauhan Collection, Noida

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

संसार में पशु, पक्षी, श्वापद=हिंसक असंख्य प्राणी हैं। वे किसी के यहाँ नौकरी नहीं करते, खेती नहीं करते, दुकानदारी नहीं करते और न किसी प्रकार का व्यापार अथवा काम-धन्धा ही करते हैं। भगवान् उन्हें भी भोजन देता है, फिर मनुष्य क्यों कोई काम करे? भगवान् सभी को भोजन देते हैं, वही सभी का अन्नदाता, पालक और पोषक है अर्थात् तेन का तर्कसिद्ध परिणाम यह निकलता है कि मनुष्य को किसी सफेद का कार्य नहीं करना चाहिए। इस तार्किक परिणाम के विरुद्ध परमेश्वर स्वयं ही इस दूसरे मन्त्र के द्वारा जीवों को सावधान करते हैं और आदेश देते हैं—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि—मनुष्य इस संसार में कर्म करता हुआ ही जीने की इच्छा करे। यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें तो कर्म करना जीव का स्वभाव है।

कर्मों के सम्बन्ध में शास्त्रों में विस्तार से लिखा है परन्तु कर्म के सम्बन्ध में इतनी बात तो सबकी समझ में आ सकती है कि करना, न करना और उलटा करना—ये तीन अवस्थाएँ कर्म की हो सकती हैं। इच्छा और कर्म का गहरा सम्बन्ध है। जहाँ इच्छा है, वहाँ कर्म का होना अवश्यम्भावी है। इच्छा या तो किसी वस्तु को प्राप्त करने के सम्बन्ध में होगी अथवा किसी अप्रिय वस्तु को दूर करने के सम्बन्ध में होगी। किसी अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करने के लिए भी कर्म करना आवश्यक है। बिना कर्म या चेष्टा के अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति असम्भव है। इसी प्रकार किसी अप्रिय, अरुचिकर वस्तु को दूर करने के लिए भी कर्म, चेष्टा आवश्यक है, बिना चेष्टा के कैसे किसी वस्तु को दूर किया जा सकता है?

जीव अल्पज्ञ है, अल्प शक्ति है, इसलिए इसकी इच्छाओं का अन्त होता दिखाई नहीं देता। वेद में भगवान् ने कहा है—**पुलुकामो हि मर्त्यः।** [ऋ० १।१७९।१] जीव में असंख्य इच्छाएँ हैं। उन इच्छाओं को पूरा करने के लिए जीव को कर्म करने पड़ते हैं। इच्छाएँ अच्छी भी हो सकती हैं और बुरी भी। दया, उपकार, संसारहित की भावना और इच्छा से प्रेरित होकर जो कर्म किये जाते हैं, वे सब कर्म अवश्य ही भले होते हैं।

Ravi Vidit Chauhan Collection, Noida

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

ईर्ष्या-द्वेष, क्रोध, बदला लेने की भावना और दूसरों को हानि पहुँचाने विचार से जो काम किये जाते हैं उन कामों के दूषित=विकृत, होने में किसी को भी सन्देह नहीं होता। कर्मों के अच्छे और बुरे हो का निर्णय ऐसा सरल नहीं है, जैसा कि लोग समझते हैं। गी [४।१६] में कहा गया है—

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।

कौन-सा कर्म करने योग्य है और कौन-सा कर्म करने योग्य न है—इस सम्बन्ध में बड़े-बड़े विद्वान् भी आश्चर्यचकित हैं। उदाहरण रूप में 'स्त्री-वध' धर्मशास्त्र में निषिद्ध है परन्तु यदि वह क्रूर अ अत्याचार करनेवाली हो तो उसे मारने में कोई दोष=पाप नहीं है ऐसे अवसरों पर कर्म या कर्तव्य का निर्णय करना आसान नहीं है कर्म की उन तीन अवस्थाओं में से 'न करना' वेद ने निषिद्ध=म कर दिया है, क्योंकि जब सारी आयु कर्म करने का विधान दे दिया 'न करना' स्वयमेव निषिद्ध हो गया। अब दो अवस्थाएँ 'करना' 'उलटा करना' शेष रह जाती हैं। प्रथम मन्त्र के अन्त में **'मा गृ कस्य स्विद्धनम्'** में हिंसा और लालच=लोभ का निषेध कर दिया हिंसा, किसी को कष्ट पहुँचाना सब पापों और बुराइयों की जड़ है आप किसी भी बुरे कर्म पर गहराई से विचार कीजिए, आपको अ कष्ट पहुँचाने की भावना अवश्य दिखाई देगी। चोरी करने में क पहुँचाने की भावना अवश्य है। किसी के साथ बलात्कार करने में दु देने की भावना के सम्बन्ध में किसी को सन्देह हो ही नहीं सकता। एक मनुष्य अपनी आवश्यकताओं से अधिक और फालतू सामान सं करने लगता है तो वह दूसरों के लिए दुःख का कारण बनता है। क का भाव यह है कि किसी भी बुरे कर्म के सम्बन्ध में सोचें तो इ 'दुःख देना' इच्छा से या बिना इच्छा के आपको अवश्य दृष्टिगो होगा। 'लालच बुरी बला है', 'लोभ पाप का मूल है'—इस प्र भगवान् ने दो भयंकर दोषों, उलटे कर्मों, विकर्मों का निषेध क तमाम बुराइयों और दोषों का निषेध कर दिया है। शेष रह

Adv. Vidit Chauhan Collection, Noida

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

'कर्म'। कर्म के अर्थ अब हुआ शुभकर्म। इसलिए मन्त्र के पूर्वार्द्ध का अर्थ निकला='मनुष्य कर्म अर्थात् शुभकर्म करता हुआ ही सौ वर्ष अर्थात् दीर्घकाल तक जीने की इच्छा करें।'

मन्त्र के इस पूर्वार्द्ध का मनन और चिन्तन करें तो निम्न उपदेश इससे मिलते हैं—

१. मनुष्य की स्वाभाविक आयु सौ वर्ष है अर्थात् आयु का मध्यमान सौ वर्ष है।

२. सौ वर्ष अर्थात् यावज्जीवन, सम्पूर्ण आयु कर्म करते रहना चाहिए। इस उपदेश को दृष्टि में रखकर धर्मशास्त्र में उपदेश है—

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।

—गीता० ३।५

कोई प्राणी एक क्षणभर के लिए भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता।

३. कर्म अनिवार्य रूप से शुभकर्म होने चाहिए।

४. शुभकर्म करने के लिए दूसरे जन्म, दूसरे दिन या दूसरे क्षण की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए। केनोपनिषद् में कहा है—

इह चेदवदीदथ सत्यमस्ति। —केन० २।५

यदि इसी समय जान लिया तो ठीक है।

जैसा हम पहले उल्लेख कर आये हैं—न करना और उलटा करना वेद ने निषिद्ध ठहराया है और कर्म करना जीव का स्वभाव है, तब कर्म करते हुए जीने की इच्छा का तात्पर्य है—कर्म को कर्तव्य समझकर कर, अपना स्वभाव समझकर कर। कर्तव्य कर्तव्य होता है। जब कर्म को कर्तव्य समझकर किया जाता है तो कर्म करने की इच्छा में स्वार्थ-भावना का लोप हो जाता है अर्थात् कर्म करने की इच्छा निष्काम कर्म करने की इच्छा में परिवर्तित हो जाती है। इच्छा का परिणाम बन्धन है और बन्धन कोई पसन्द नहीं करता। ब्रह्मविद्या का फल बन्धन से, संसार बन्धन से और जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा होना चाहिए। कर्म को सभी बन्धन का कारण कहते हैं, परन्तु यदि कर्म करते हुए

Adv. Vidit Chauhan Collection, Noida

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

स्वार्थ की भावना न हो तो वह कर्म निष्काम होने से मुक्ति का साधन बन जाता है। इसलिए वेद ने आदेश दिया—**एवं त्वयि नरे कर्म न लिप्यते**—इस प्रकार तुझ मनुष्य से कर्म लिप्त नहीं होता। जब कर्म के फल से निःस्पृह=बेपर्वा, लगावरहित होकर, इसे कर्तव्य समझकर किया जाए तब कर्म बन्धन का कारण नहीं रहता, क्योंकि जब किसी फल को दृष्टि में रखकर कर्म किया जाता है, तब कामना, इच्छा, फल की भावना साथ रहती है और वह कर्म सकाम बन जाता है। जब किसी कामना या इच्छा को दृष्टि में रखकर कर्म किया जाता है तब वह कामना ही लक्ष्य बन जाती है और उसकी सिद्धि के लिए मनुष्य उचित और अनुचित साधनों का प्रयोग करने में भी नहीं हिचकता। इसके विपरीत जब मनुष्य किसी कर्म को इसलिए करता है कि यह कर्तव्य है, तब उसका सबसे बड़ा लक्ष्य कर्तव्य को पूर्ण करना होता है, अतः वह कर्तव्य को दृष्टि के सम्मुख रखकर ईमानदारी से उसे पूरा करने का प्रयत्न करता है। फिर इस कर्म का कोई भी फल निकले इसका उसपर कोई प्रभाव नहीं होता। जिस प्रकार स्वामी की आज्ञा के अनुसार काम करनेवाला नौकर परिणाम की ओर से निश्चिंत होता है। वह स्वामी की आज्ञा का पालन करना अपना कर्तव्य समझता है। इसी प्रकार जब भक्त अपने आपको प्रभु के अर्पण करके स्वयं को उसका हथियार समझ लेता है, उस समय वह जो कुछ भी करता है, स्वामी की आज्ञा-पालन के लिए करता है, अपने लिए कुछ नहीं करता, क्योंकि हथियार की अपनी कोई इच्छा नहीं होती।

परन्तु अपने आपको भगवान् का हथियार बना लेना कोई सरल कार्य नहीं है। अहंकार और आत्मप्रदर्शन की भावना को मारकर अपने आपको भगवान् को समर्पण कर देने के पश्चात् यह भावना उत्पन्न हो सकती है। पहले मन्त्र में 'भगवान् के दिये हुए का भोग करो'—उपदेश का तात्पर्य ही यह है कि अहंकार और अभिमान को त्यागो। इसी मन्त्र में यह उपदेश भी है—'लालच मत कर, यह धन किसका है।' धन-सम्पत्ति, ठाठ-बाट के द्वारा ही मनुष्य आत्मप्रदर्शन किया करता है।

Adv. Vidit Chauhan Collection, Noida

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

जब धन पर आसक्ति ही नहीं रही, तब उसका प्रदर्शन कैसे हो सकेगा। अहंकार और आत्मप्रदर्शन का भाव गया तब आत्म-समर्पण करना सरल है। कहने का भाव यह कि मन्त्र के इस खण्ड का वास्तविक तात्पर्य यह है कि साधक अपने आपको भगवान् को समर्पित कर दे। जब वह सबके अन्दर-बाहर है, तब वह हमारे भी अन्दर-बाहर है अर्थात् वह हर प्रकार से हमपर छाया हुआ है, हमारा शासक है, तो क्यों न हम उसकी इच्छा पर चलें। उसकी इच्छा के साथ अपनी इच्छा मिला देने से हम सदा प्रसन्न रहेंगे, शोक और मोह से ऊपर उठ जाएँगे। यदि उसकी इच्छा में अपनी इच्छा न मिलाएँगे, अपितु उसकी इच्छा के विरुद्ध चलेंगे तो उसकी इच्छा मृत्यु के रूप में परिवर्तित होकर हम पर अवतरित होगी, जिससे हम सुख-शान्ति से वञ्चित हो जाएँगे।

प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या आत्मसमर्पण के अतिरिक्त कोई और उपाय भी है? वेद इसका उत्तर देता है—**'नान्यथेतोऽस्ति'**—इसके अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय, मार्ग, साधन नहीं है। तात्पर्य यह कि भगवान् के मार्ग पर चलने के लिए आत्मसमर्पण अथवा आत्मविस्मरण की महती आवश्यकता है। यह सबसे पहला अभ्यास है, सबसे पहला पाठ है। आत्मसमर्पण या आत्मविस्मरण के बिना इस मार्ग पर चलना असम्भव है, अतः साधक को आत्मसमर्पण या आत्मविस्मरण का अभ्यास करना चाहिए।

□

Adv. Vidit Chauhan Collection, Noida

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

आत्मघात का फल

ओ३म् । असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।
ताँस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनोजनाः ।।३।।

शब्दार्थ—**ते** वे **लोकाः** लोक, कर्मफल भोगने की अवस्थाएँ **असुर्याः** असुरों के विषय में हैं और **अन्धेन तमसा** घोर अन्धकार से **आवृताः** ढकी हैं । **ये** जो **के च** कोई **आत्महनः** आत्मघाती **जनाः** लोग हैं **ते** वे **प्रेत्य** मरकर **अपि** भी **तान्** उन अवस्थाओं को **गच्छन्ति** पहुँचते हैं ।

व्याख्या—पहले मन्त्र में ईश्वर को सब वस्तुओं के अन्दर-बाहर विद्यमान और सबका स्वामी वर्णन करके उसके द्वारा प्रदत्त पदार्थों को भोगने का आदेश दिया गया है । दूसरे मन्त्र में साधक को आत्म-समर्पण करने का उपदेश दिया गया है । चेतन की—"न करना, उलटा करना और करना"—ये तीन अवस्थाएं बताकर न करने और उलटा करने को निषिद्ध बताकर अर्थात् स्वार्थरहित होकर नेक और निष्काम कर्म करना आत्मा का स्वभाव बताया गया था । इस तीसरे मन्त्र में उन लोगों की अवस्था बताई गई है जो आत्मा के इस स्वभाव के विरुद्ध कार्य करते हैं अर्थात् या तो सर्वथा=बिल्कुल कोई कार्य नहीं करते अथवा उलटा कर्म करते हैं। ऐसे लोगों को इस मन्त्र में **आत्महनः** आत्मघाती का नाम दिया गया है।

आत्महनः शब्द के अर्थ होते हैं—'आत्मा को मारनेवाला ।' वेदों और शास्त्रों में आत्मा को अमर—न मरनेवाला वर्णित किया गया है अतः आत्मा को मारना असम्भव है, सुतराम या तो आत्मा शब्द के अर्थों में लक्षणा करनी पड़ेगी अथवा 'हन' धातु के अर्थों में लक्षणा माननी पड़ेगी । जब मुख्य अर्थ उपयुक्त प्रतीत न होता हो तो वहाँ उस अर्थ से सम्बन्ध रखनेवाले दूसरे अर्थ को स्वीकार करना होता है इसको 'लक्षणा' कहते हैं । जैसे किसी ने कहा—"नदी में गाँव है ।"

Arya Vidit Chauhan Collection, Noida

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

नदी में गाँव का होना असम्भव है, अतः नदी शब्द का अर्थ करना होगा—"नदी का किनारा।" इसी प्रकार यहाँ भी लक्षणा का सहारा लेना चाहिए। आत्मा को मारना असम्भव है अतः लक्षणा के द्वारा 'आत्मा' शब्द का अर्थ हुआ आत्मा का स्वभाव अर्थात् स्वार्थरहित, निष्काम, शुभकर्म अर्थात् आत्मघाती का अर्थ हुआ स्वार्थरहित, निष्काम, शुभकर्मों को मारनेवाले, न करनेवाले अथवा आत्मा में लक्षणा न मानकर 'हनन' शब्द में लक्षणा मानें तब हनन का अर्थ मारना न करके वञ्चित करना करें। इस दशा में 'आत्महनः'—आत्मघाती का अर्थ होगा आत्मा को वञ्चित करनेवाले अर्थात् आत्मा को उसके वास्तविक स्वभाव से वञ्चित करनेवाले। दोनों प्रकार से अर्थ एक ही निकलता है।

आत्मघाती कई प्रकार के होते हैं। वे लोग भी आत्मघाती हैं जो आत्म के अस्तित्व में ही विश्वास नहीं रखते। ऐसे लोग कहते हैं कि शरीर जिन तत्त्वों से बना है आत्मा का उनसे भिन्न अस्तित्व का प्रमाण नहीं मिलता। उनसे पूछना चाहिए कि मरने के पश्चात् शरीर विद्यमान है परन्तु शरीर में गति और संवेदन क्यों नहीं हो रहा ? संसार में हम प्रतिदिनदेखते हैं कि जिन वस्तुओं में गति किसी बाह्य कारण से होती है, वह गति देनेवाले की इच्छा के अनुसार तथा उसके अधीन होती है। यदि मानव और पशु शरीरों में इनके मिश्रण करनेवाले तत्त्वों के अतिरिक्त कोई चेतन और विवेकशील अस्तित्व नहीं है तो इनमें गति कैसे है ? तथा इनकी गतियों में एकता क्यों नहीं है। इच्छाओं, संवेदनाओं और गतियों की भिन्नता यह बताती है कि इन शरीरों में इनसे भिन्न एक और अस्तित्व है और वह प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न है, जिसके कारण से इन शरीरों में गति और ठहराव होता रहता है। आत्मा को न मानना अपने अस्तित्व से ही इन्कार करना है, अतः आत्मा को न माननेवाला सबसे बड़ा आत्मघाती है। कई लोग ऐसे भी होते हैं जो आत्मसत्ता को तो अस्वीकार नहीं करते। परन्तु अपने आपको 'अहं ब्रह्मास्मि—मैं परमात्मा हूँ'—ऐसा कहते हैं अर्थात् अपने आपको

Adv. Vidit Chauhan Collection, Noida

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

परमात्मा से भिन्न नहीं मानते। ये लोग भी आत्मघाती हैं, क्योंकि वस्तुतः वे अपनी पृथक् आत्मसत्ता को अस्वीकार कर रहे होते हैं। क्या विडम्बना है जिन्हें दीवार की ओट में होनेवाली घटनाओं का ज्ञान न हो सके, वे कहें कि हम ब्रह्म हैं। ऐसे मायावादी तो पक्के नास्तिक और आत्मघाती हैं।

कई लोग शरीर की उत्पत्ति के साथ आत्मा की उत्पत्ति और शरीर के नाश के साथ आत्मा का भी नाश मानते हैं। वे भी आत्मघाती हैं। कोई पूछे कि आत्मा को किसने उत्पन्न किया? क्यों उत्पन्न किया? क्यों एक को कुरूप और भौंड़ा शरीर दिया और क्यों एक को सुन्दर और आकर्षक शरीर प्रदान किया? इस मत में और आत्मा के अस्तित्व को न माननेवाले लोगों के मत में तनिक भी अन्तर नहीं है, अतः वे भी आत्मघाती हैं।

कई लोग आत्मा को उत्पन्न हुआ तो मानते हैं परन्तु उसका नाश नहीं मानते। ये लोग भी आत्मघाती हैं, क्योंकि आत्मा के वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ हैं।

आत्मा का वास्तविक स्वरूप है अजन्मा, अविनाशी, सत्-चित् अर्थात् जिसे तत्त्वों के मिश्रण से उत्पन्न नहीं किया जाता अपितु जो सदा से है और जिसका नाश कभी नहीं होता, जो ज्ञान और प्रयत्न से युक्त है, विवेकशील है। इसके विरुद्ध आत्मा का स्वरूप माननेवाले आत्मघाती हैं।

जो लोग निष्काम कर्म नहीं करते वे या तो खाली रहेंगे, निठल्ले और निकम्मे रहेंगे अथवा उलटे अर्थात् बुरे कर्म करने लग जाएँगे। खाली रहनेवाले मनुष्य के सम्बन्ध में अंग्रेजी की एक कहावत है—

An idle man is the workshop of a devil.

निकम्मा मनुष्य शैतान का कारखाना होता है।

पिछले मन्त्र में बताया जा चुका है कि सर्वथा खाली रहना, किसी प्रकार का कोई काम न करना असम्भव है, अतः जब मनुष्य खाली होता है तब उसके मस्तिष्क पर बुरे विचार छा जाते हैं। विचार क

Adv. Vidit Chauhan Collection, Noida

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

के सूचक होते हैं। कर्म की नींव विचार ही हैं अर्थात् खाली रहना, कोई काम न करना बुरे कर्म करने की भूमिका है, तैयारी है। बुरे कर्म करनेवालों को वेद में असुर कहा जाता है। असुर का शब्दार्थ है—जो सुर न हो, भलाई के लिए काम न करता हो। या जो 'असु' प्राणों में रमण करता हो अर्थात् जो खाओ, पिओ, करो आनन्द—eat, drink and be merry के सिद्धान्त को माननेवाला हो। ऐसे मनुष्य के समक्ष यही संसार होता है। इसके बाद भी कुछ होता है, इसपर उसका विश्वास नहीं होता। इसलिए वह जैसे भी सम्भव हो इस संसार के भोग-विलास भोग लेना चाहता है। उसका तो विश्वास है—'**भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।**' भोग-विलास के लिए प्रयत्न कर, क्योंकि शरीर के भस्म हो जाने पर यह शरीर पुनः नहीं मिलेगा। जब मनुष्य के विचार इस प्रकार के हो जाते हैं तब उसकी बुद्धि पर पर्दा पड़ जाता है। भोग-विलास में आसक्त मनुष्य की पुण्य और पाप में विवेक करने की शक्ति नष्ट हो जाती है। जिसका विवेक नष्ट हो जाए उसके पतन में कोई सन्देह ही नहीं रहता। एक संस्कृत के कवि के कथनानुसार—

विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः।

विवेकभ्रष्टों की गिरावट, पतन के असंख्य मार्ग होते हैं।

इसलिए वेद ने ऐसे मनुष्यों की अवस्था का वर्णन करते हुए आदेश दिया है कि 'घोर अन्धकार से ढकी हुई, अत्यन्त अन्धकारमय।' वेद का आदेश है कि ऐसे लोगों की यह अवस्था इस जन्म में ही हो, यह बात नहीं अपितु मरकर भी ये लोग ऐसी अवस्थाओं में पहुँचते हैं। तात्पर्य यह कि मरने के पश्चात् इनको ऐसी योनियाँ मिलती हैं कि जहाँ ये न केवल भौतिक प्रकाश से ही वञ्चित रहते हैं, अपितु आध्यात्मिक प्रकाश से भी प्रकाशित नहीं हो सकते। बुद्धि और बुद्धि द्वारा प्राप्त होनेवाली सम्पूर्ण वस्तुओं से वञ्चित कर दिये जाते हैं। ओह! कैसी भयंकर अवस्था है। तनिक पशुओं पर दृष्टि डालिए, कैसी दयनीय अवस्था है। यदि इन्हें किसी प्रकार का कोई कष्ट हो जाए तो वे बता

Adv. Vidit Chauhan Collection, Noida

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

नहीं सकते । तनिक इसके साथ ऐसी अवस्था की कल्पना कीजिए कि वे जो देखने और सुनने तथा छूने और सूंघने की शक्ति से भी वञ्चित हैं, उनके लिए यह जीवन या शरीर कितना दुःखमय और कष्टदायक होता होगा। यह तो कैदे तन्हाई[1] (एकान्त कारागार) से भी बुरी अवस्था है। किसे यह अवस्था पसन्द हो सकती है? परन्तु संसार के लोगों की अधिकतर संख्या इसी अवस्था को प्राप्त करने में संलग्न है। चाहे हो अज्ञानवश ही परन्तु वह उसी अवस्था पर पहुँचानेवाले मार्ग पर पग बढ़ाता जा रहा है।

वेद ने शुभ कर्म न करनेवाली उस दुर्दशा का दर्शन कराकर शुभ कर्म करने की प्रेरणा की है। वेद कर्म करने का उपदेश देता है। यजुर्वेद का तो आरम्भ ही **'श्रेष्ठतमाय कर्मणे'** सर्वश्रेष्ठ कर्म करने के उपदेश से होता है।

इन तीन मन्त्रों में ईश्वर की सर्वव्यापकता, उसकी मिल्कियत=सम्पत्ति, उसकी प्रसन्नता में प्रसन्न रहने, हिंसा और लालच त्यागने तथा लगातार शुभकर्म करते रहने एवं कर्म भी ब्रह्मार्पण करने, साथ ही अपने को भी ब्रह्मार्पण करने का उपदेश करके श्रेष्ठ मार्ग पर न चलनेवालों की वर्तमान और मृत्यु के पश्चात् की दुरवस्था का वर्णन किया गया है।

इस मन्त्र के साथ ईशोपनिषद् का पहला अधिकरण समाप्त होता है।

□

---

१. ऐसी कैद जिसमें कैदी को अलग कोठरी में बन्द कर दिया जाता है, वहाँ उससे कठोर परिश्रम कराया जाता है और वहीं खाना दिया जाता है।

Adv. Vidit Chauhan Collection, Noida

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

ईश्वर का स्वरूप

ओ३म्। अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्शत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥४॥

शब्दार्थ—वह परमेश्वर **अनेजत्** गति नहीं करता और **एकम्** एक है, **मनसा** मन की अपेक्षा **जवीयः** अधिक वेगवाला, तीव्रगामी है, **एनत्** इसको **देवाः** देव, इन्द्रियाँ न नहीं **आप्नुवन्** प्राप्त कर सकतीं। वह **पूर्वम्** पहले से ही **अर्शत्** प्राप्त हुआ होता है। **तत्** वह ब्रह्म **तिष्ठत्** गति न करता हुआ भी **अन्यान्** दूसरे धावतः दौड़ते हुओं को **अति+एति** लाँघ जाता है, पीछे छोड़ जाता है। **मातरिश्वा** सर्वव्यापक परमात्मा के आश्रय में रहनेवाला ज्ञानी **अपः** अपने सारे विस्तार को, कर्मों को **तस्मिन्** उस परमात्मा में **दधाति** धारण करता है अर्थात् सब कर्म ब्रह्मार्पण कर देता है और अपने विस्तार का कारण परमात्मा को जानता है।

व्याख्या—पहले बताया जा चुका है कि ब्रह्मविद्या का मूल, उपनिषदों की नींव इस ईशोपनिषद् का पहला मन्त्र है और इस उपनिषद् के शेष मन्त्र पहले मन्त्र की व्याख्या हैं। पहले मन्त्र में सम्मिलित ईश, ईश्वर, सारे ब्रह्माण्ड के शासक का स्वरूप वर्णन करने के लिए यह मन्त्र अवतरित हुआ है।

हम पीछे वर्णन कर आये हैं कि जीवात्मा में असंख्य इच्छाएँ हैं, इनकी पूर्ति के लिए उसे गति, क्रिया करनी पड़ती है परन्तु इसके विरुद्ध परमात्मा में कोई इच्छा नहीं। अथर्ववेद में परमात्मा को **अकामः** अर्थात् इच्छाओं से रहित और **रसेन तृप्तः** आनन्द से भरपूर वर्णित किया गया है। जब परमात्मा में कोई इच्छा ही नहीं तो उसमें गति, क्रिया किस लिए होगी, अतः इस मन्त्र में परमात्मा को **अनेजत्**

Adv. Vidit Chauhan Collection, Noida

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

गति न करनेवाला कहा गया है तथा वह एक है, अद्वितीय है, उस जैसा और कोई नहीं।

संसार में भौतिक पदार्थों में विद्युत् सबसे अधिक तीव्रगामी है। विद्युत् की इस विशेषता को जानकर तारबर्की,[१] बेतार की तार[२] और टेलीफोन=दूरभाष आदि आविष्कार हुए हैं। परन्तु मन विद्युत् से भी अधिक तीव्रगामी है। कोई भौतिक पदार्थ इस विषय में मन की समानता नहीं कर सकता। संस्कृत-साहित्य में तीव्रगमन के लिए मन की उपमा दी जाती है। मन्त्र में उपदेश है कि ब्रह्म मन से भी अधिक तीव्रगामी है, क्योंकि जहाँ कहीं मन जाता है, ब्रह्म पहले ही वहां विद्यमान होता है। संसार की प्रत्येक वस्तु गति कर रही है, दौड़ रही है। पृथिवी गति में है, सूर्य गतिमान् है। वायु, जल, अग्नि समस्त तत्त्व निरन्तर गति कर रहे हैं, किसी को चैन नहीं। इनकी समता में ब्रह्म नितान्त गतिहीन है, सर्वव्यापक जो ठहरा। सर्वव्यापक में गति की सम्भावना? परन्तु मजे की बात यह है कि वह गति न करता हुआ भी इन सब दौड़ते हुओं को पीछे छोड़ जाता है। कैसी विचित्र बात है परन्तु है वास्तविकता।

ब्रह्म की इस विचित्र शक्ति का अनुभव करके ब्रह्मज्ञानी अपनी सारी शक्तियों का स्रोत ब्रह्म को समझने लगता है और इसलिए सारे कर्म ब्रह्म के अर्पण कर देता है अर्थात् अपने आपको परमात्मा की प्रसन्नता में प्रसन्न बना लेता है।।

मन्त्र में विरोधाभास अलंकार का उत्तम उदाहरण है। देखिए पहले कहा कि वह गति नहीं करता परन्तु साथ ही उपदेश कर दिया कि वह मन से भी तीव्रगामी है। जो गति नहीं करता वह तीव्रगामी कैसे हो सकता है? गति और तीव्रता तो एक ही बात है। ये एक दूसरे के विरुद्ध बात हैं। वेद ने स्वयं ही इस विरोधाभास का खण्डन कर दिया है। वेद कहना चाहता है कि मन दौड़कर किसी दूर, अत्यन्त

१. विद्युत् की शक्ति द्वारा समाचार पहुँचानेवाला तार
२. wireless

Adv. Vidit Chauhan Collection, Noida

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

दूर स्थान पर पहुँचता है और वह अत्यल्प समय में वहाँ पहुँचता है परन्तु वहाँ उसे परमात्मा विद्यमान मिलता है। वह सोचता है, यह क्या हो गया, मुझसे पहले ब्रह्म यहाँ कैसे पहुँच गया। मुझसे तीव्रगामी तो संसार में कोई नहीं फिर यह मुझसे पूर्व यहाँ कैसे आ पहुँचा ? वेद कहता है, वह पहले से ही वहाँ विद्यमान है अर्थात् जहाँ-जहाँ दौड़कर मन पहुँचेगा, ब्रह्म को पहले से विद्यमान पायेगा।

इस तत्त्व को समझ लिया तो उपासना में अत्यधिक लाभ होगा। इस तत्त्व को समझकर उपासक किसी भी अवस्था में सीमित वस्तुओं पर मन को नहीं लगायेगा क्योंकि मन सीमित पदार्थों को शीघ्र ही पार कर जाता है। असीम ब्रह्म में मन को लगाने से वह उसको पार कर ही नहीं पाता। जिधर भागकर जाता है, उधर ही ब्रह्म को पहले से विद्यमान पाता है, अतः अन्त में थककर हार जाता है और अपने आपको ब्रह्म में ही लगाये रखने में लाभ अनुभव करता है।

केनोपनिषद् में इस मन्त्र के दूसरे भाग (उत्तरार्द्ध) की व्याख्या है। इसकी व्याख्या हमने अपने 'आत्म-उपनिषद्' भाष्य में की है।

इस मन्त्र में निम्न उपदेश हैं—

१. परमेश्वर गतिरहित है।
२. मन की चञ्चलता दूर करने के लिए मन को परमेश्वर में लगाना चाहिए।
३. ईश्वर सर्वत्र विद्यमान है।
४. इन्द्रियाँ उसको नहीं पा सकतीं।
५. ब्रह्मज्ञानी सारे कर्म ब्रह्मार्पण कर देता है।

ओ३म्। तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥५॥

शब्दार्थ—तत् वह ब्रह्म एजति गतिप्रदाता है परन्तु तत् यह स्वयं न एजति गति नहीं करता। तत् वह दूरे दूर अर्थात् कठिनता से प्राप्त होने-वाला है। परन्तु तत् वह अन्तिके निकट उ ही है, क्योंकि तत् वह अस्य

Adv. Vidit Chauhan Collection, Noida

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

इस **सर्वस्य** सबके **अन्तः** अन्दर है और **तत्** वह **उ** ही **अस्य** इस **सर्वस्य** सबके **बाह्यतः** बाहर भी है।

व्याख्या—पिछले मन्त्र को और अधिक स्पष्ट करने के लिए यह मन्त्र है। वस्तुतः यह प्रथम मन्त्र के **'आवास्यम्'**—(सब ओर से ढका हुआ और बसा हुआ) शब्द की अत्यन्त अर्थपूर्ण और सारगर्भित व्याख्या है।

पिछले मन्त्र में भगवान् को **अनेजत्** गति न करनेवाला कहा गया है। प्रश्न होता है जो स्वयं गति नहीं करता वह दूसरों को गति कैसे प्रदान कर सकता है ? इसका उत्तर देने के लिए पहले मन्त्र में वर्णित की हुई बात पर एक अन्य शैली से बल दिया गया है अथवा प्रकाश डाला गया है। वह ब्रह्म गति देता है परन्तु वह स्वयं गति नहीं करता। तात्पर्य यह कि दूसरों को गति देने के लिए गतिदाता का स्वयं गति करना आवश्यक नहीं है। यह ठीक है कि जब हम किसी वस्तु को हिलाते हैं तो हमें भी थोड़ी-सी गति करनी पड़ती है परन्तु जब हम हाथ-पैर, सिर अथवा शरीर के किसी अङ्ग को हिलाना चाहते हैं तो उस अङ्ग को बिना हाथ लगाये गति दे दिया करते हैं, क्योंकि इस शरीर पर आत्मा का अधिकार है, यद्यपि है वह अधूरा और अपूर्ण।

परमात्मा को पहले मन्त्र में सर्वव्यापक बताया गया है अर्थात् वह संसार की सभी वस्तुओं, पदार्थों पर छाया हुआ है, सब-कुछ उसके द्वारा आच्छादित है। जिस प्रकार आत्मा अपने अधिकृत शरीर में बिना गति किये अपनी इच्छा के अनुसार इसमें गति उत्पन्न कर देता है इसी प्रकार परमात्मा भी समस्त पदार्थों को गति देता है परन्तु स्वयं गति नहीं करता। तात्पर्य यह कि सर्वव्यापक में गति की सम्भावना नहीं। इससे एक और बात सिद्ध होती है कि इस संसार की सब वस्तुओं में गति देनेवाला, सबका गतिप्रदाता परमात्मा है, अर्थात् संसार के कारण प्रकृति के परमाणुओं में गति उत्पन्न करके वह उन्हें जीवों की आवश्यकता के अनुसार एक विशेष क्रम में रखता है। कहने का भाव यह है कि वह आकाश आदि की भाँति केवल सर्वव्यापक ही नहीं अपितु इस

Adv. Vidit Chauhan Collection, Noida

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

सम्पूर्ण भौतिक जगत् को एक क्रम और रूप प्रदान करनेवाला भी है।

तत्त्वों का मिश्रण करना और उनमें क्रम देना बुद्धि का परिणाम है। जितना बड़ा मिश्रण और क्रम हो, उसी के अनुपात में बुद्धि समझी जाती है। किसी बनी हुई वस्तु को देखकर उसकी बनावट और प्रबन्ध से बनानेवाले की बुद्धि और चतुराई की कल्पना की जाती है। परन्तु इस बात पर सब सहमत हैं कि किसी बनी हुई वस्तु से बनानेवाले की सम्पूर्ण बुद्धि और मस्तिष्क की पूर्ण कल्पना नहीं जा सकती, अपितु यह मानना पड़ता है कि इसकी बुद्धि इससे कहीं अधिक है, जितनी कि इसके द्वारा निर्मित वस्तु प्रकट कर रही है। अब यह तो सभी मानते हैं कि संसार के पदार्थों में बनावट और क्रम दोनों पाये जाते हैं। वर्षों पूर्व सूर्य और चन्द्र ग्रहण का पता लगा लिया जाता है। ऋतुओं के ज्ञान में दक्ष लोग वर्षा के होने और न होने की सूचना कई दिन पूर्व दे दिया करते हैं और कहीं आपको कोई क्रम-विशेष भङ्ग होता हुआ अनुभव हो तो वहाँ भी समझना चाहिए कि यहाँ भी सर्वज्ञ परमात्मा का कोई विशेष रहस्य है।

आप सोचें छोटी-से-छोटी सुईं तो अपने आप उत्पन्न नहीं होती, फिर इतना बड़ा संसार स्वमेव कैसे उत्पन्न हो गया। इसलिए यही मानना उचित है कि यह किसी महाबुद्धि का चमत्कार है। यह संसार कितना लम्बा-चौड़ा है, आज तक कोई बड़ी-से-बड़ी बुद्धिवाला वैज्ञानिक भी इसका पार न पा सका। इस असीम ब्रह्माण्ड को निर्मित करने, रचने और उसमें क्रम देने के लिए बुद्धि भी अनन्त चाहिए। ऊपर यह बताया जा चुका है कि निर्मित वस्तु से निर्माण करनेवाले की सारी बुद्धि की कल्पना नहीं की जा सकती, अपितु यह सिद्ध होता है कि उसकी बुद्धि बहुत अधिक है। इस हिसाब से इस असीम संसार से इसके रचयिता और क्रमप्रदाता की बुद्धि और चतुराई की जितनी कल्पना होती है, वह उससे कहीं महान् है। इसीलिए यजुर्वेद के इकत्तीसवें अध्याय के तीसरे मन्त्र में उपदेश दिया गया है—"यह सारा संसार उस परमात्मा की महिमा को प्रकट कर रहा है और वह स्वयं इससे कहीं बड़ा है, बहुत बड़ा है।"

Adv. Vidit Chauhan Collection, Noida

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

वह कहाँ है ? वह दूर है। दूर से तात्पर्य यहाँ काल या देश की दूरी से नहीं है। जब वह सर्वव्यापक है, सर्वत्र विद्यमान है, तो स्थान की दूरी की तो सम्भावना ही नहीं रह जाती। जब वह इस समय भी विद्यमान है तो काल की दूरी भी दूर हो गयी। तब समझ की दूरी रह गयी। यही दूरी है, जिसे दूर करना है, क्योंकि सर्वव्यापक होने से वह निकट ही है। यदि वह निकट है तो दिखाई क्यों नहीं देता ? इसके उत्तर में निवेदन है कि यह आवश्यक नहीं है कि निकट रहनेवाली वस्तुएँ अवश्य दृष्टिगोचर हों। आकाश के अस्तित्व के सम्बन्ध में भले ही कुछ लोगों को सन्देह हो परन्तु वायु के अस्तित्व में तो किसी को सन्देह नहीं, फिर वह क्यों दिखाई नहीं देती ? यही कहोगे कि उसमें रूप नहीं। तब हमारा भी कहना है कि परमात्मा में रूप नहीं, शकल नहीं, रंग नहीं, अतः वह इन चर्मचक्षुओं से दिखाई नहीं देता। अपने अस्तित्व के सम्बन्ध में तो सभी सन्देहरहित हैं और वह शरीर से दूर भी नहीं परन्तु क्या किसी ने उसको इन आँखों से देखा ? अच्छा लीजिए आँख में पड़ा हुआ सुरमा आँख के कितना निकट है। इसको बाह्य सहायता के किसने देखा है। इससे यह सिद्ध होता है कि किसी वस्तु के दिखाई न देने के कई कारण होते हैं। जिस प्रकार सुरमे को देखने के लिए दर्पण (शीशे) की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार इस ब्रह्म को देखने के लिए भी अन्तःकरणरूपी दर्पण की आवश्यकता है। यदि दर्पण पर पर्दा पड़ा हुआ है तब भी आँख या आँख का सुरमा दिखाई नहीं देता, अतः सर्वप्रथम इस पर्दे को हटाना पड़ता है। यदि दर्पण पर रेत-धूल हो तो उसे स्वच्छ करना पड़ता है। सफाई करते समय यदि वह हिल जाए तो उसे ठहराना पड़ता है। इसी प्रकार परब्रह्म का साक्षात्कार करानेवाले दर्पण पर पर्दा पड़ा हुआ है। इस अविद्या के पर्दे को दूर करो। सत्सङ्ग, वेदशास्त्र के अभ्यास और ज्ञान-चर्चा से यह अज्ञान का पर्दा दूर होता है। अज्ञान का नाश होने पर ज्ञान होता है कि हमारे उस आध्यात्मिक दर्पण पर किस प्रकार का रेत-धूल चढ़ा हुआ है। इसको तप, योगाभ्यास, कर्मयोग आदि द्वारा

Adv. Vidit Chauhan Collection, Noida

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

दूर किया जाता है। तप और योगाभ्यास करते हुए यदि मन में चञ्चलता उत्पन्न हो जाए तो उसे विचार द्वारा दूर किया जाता है। अज्ञान के पर्दे को 'आवरण' आत्मिक मैल को 'मल' तथा आत्मिक चञ्चलता को 'विक्षेप' कहते हैं। जब साधक साधना द्वारा आवरण, मल और विक्षेप दोषों का दूर कर लेता है, तब वह मस्त होकर कह उठता है—"वह तो अत्यन्त निकट है।"

सब दोषों के दूर होने के कारण अब उसकी आन्तरिक आँख खुल गई है, खुल ही नहीं गई अपितु उसकी शक्ति बहुत बढ़ गई है। अब उसे ब्रह्म केवल अपने भीतर ही दिखाई नहीं देता अपितु इस सारे ब्रह्माण्ड के अन्दर भी वही समाया हुआ दिखाई देता है। संसार की स्थूल-से-स्थूल और सूक्ष्म-से-सूक्ष्म वस्तु में वह उस परमेश्वर की विद्यमानता अनुभव करने लगता है। अग्नि में प्रकाश उसी की ज्योति का तो परिचायक है, जल में रस का अस्तित्व भी उसका कृतज्ञ है। वायु की जीवनशक्ति उस जीवनाधार का स्मरण करा रही है। पृथिवी की उद्भिज शक्ति अपना आश्रय उसी को बता रही है। अब साधक को सबके अन्दर उसके दर्शन होते हैं। इतना ही नहीं वह इन सब पदार्थों के बाहर भी उसी की ज्योति का दर्शन करता है। वह आत्मनेत्र से देखता है कि ब्रह्म जहाँ एक ओर सब इन्द्रियों में समाया हैं, वहाँ उन सबपर छा रहा है, सबको ढक रहा है। यह साक्षात्कार की अन्तिम अवस्था है। कभी-कभी इस अवस्था से साधक को धोखा भी हो जाता है। सब पदार्थों के बाहर-भीतर, अपने भीतर-बाहर उसी की ज्योति देखकर वह केवल उसी को देखने लगता है। उसके आनन्दरस के कारण ब्रह्म के अतिरिक्त सब पदार्थों, यहाँ तक कि अपने अस्तित्व को भी भुला देता है। किसी के अस्तित्व को भुला देने के कारण उस वस्तु का अभाव नहीं हो जाया करता। परन्तु कोई-कोई साधक इस अवस्था में आकर संसार के अस्तित्व से ही इन्कार कर देता है। यह उसकी भूल है। यदि वह ब्रह्म ही एक अस्तित्व हो, उसके अतिरिक्त जीव और प्रकृति (जगत्) न हों तो वह किसमें व्यापक है? वह किसका स्वामी

Adv. Vidit Chauhan Collection, Noida

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

है ? वह किसके भीतर है, किसके बाहर है आदि-आदि ऐसे अनेक प्रश्न उत्पन्न हो जाते हैं, जिनका उत्तर ही नहीं हो सकता । अतः इस अवस्था में पहुँचकर साधक को बहुत सावधान और जागरूक होना चाहिए। ब्रह्म के अतिरिक्त पदार्थों से मुँह मोड़ना और बात है और उनके अस्तित्व को ही न मानना और बात है। साधना में आत्मविस्मृति तो आवश्यक है और उससे साधना में सहायता मिलती है परन्तु अपने अस्तित्व से इन्कार कर देना तो बिगाड़ पैदा करता है । जब 'मैं' हूँ ही नहीं, तो फिर साधना कैसी ? अतः आत्मविस्मृति और आत्म-अस्तित्व से इन्कारी के सूक्ष्म भेद को समझकर साधक को पग बढ़ाना चाहिए।

इस मन्त्र के साथ ईशोपनिषद् का दूसरा अधिकरण समाप्त होता है । इससे अगले अधिकरण में इन मन्त्रों से प्राप्त हुए अनुभव का वर्णन होगा ।

□

Adv. Vidit Chauhan Collection, Noida

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

आत्मज्ञान से संशयनाश

ओ३म् । यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानु पश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न वि चिकित्सति ।।६।।

शब्दार्थ—**यः** जो **तु** तो **सर्वाणि** सब **भूतानि** भूतों को, पदार्थों को **आत्मन्** आत्मा में, सर्वव्यापक परमात्मा में **अनु+पश्यति** देखता है **च** और **सर्व+भूतेषु** सब वस्तुओं, पदार्थों में **आत्मानम्** आत्मा को, सर्व-व्यापक परमात्मा को (देखता है), **ततः** तब वह **न** नहीं **विचिकित्सति** सन्देह करता है ।

व्याख्या—मनुष्य के सब कष्ट, क्लेश और दुःखों का सबसे बड़ा कारण सन्देह है । धनिक और ऐश्वर्यवानों के मन में सन्देह होता है कि धनकामी निर्धन मेरी सम्पत्ति पर लोभ की दृष्टि लगाये बैठा है । व्यापारी को सन्देह है कि अमुक व्यक्ति मेरे कारोबार को हानि पहुँचाने की घात में है । प्रसिद्ध पहलवान को सन्देह है कि अमुक पहलवान मुझे पराजित करके मेरी कीर्ति को समाप्त करने लगा है । वर्तमान शासक को भय है कि विरोधी पार्टी अधिक वोट बटोरकर हमें बाहर करने की तैयारी में है । विदेशी शासन को हर समय देशभक्तों से डर लगा रहता है । तात्पर्य यह कि संसार का प्राचीन इतिहास और वर्तमान दशा पुकार-पुकारकर बता रहे हैं कि संसार में आशंका और सन्देह का सदा बोलबाला रहा है और अब भी है । संसार में जितने भी झगड़े हुए और हो रहे हैं, उनकी नींव सन्देह ही है । इस सन्देह के कारण मित्र मित्र के, पिता पुत्र के, गुरु शिष्य के और भाई भाई के सम्बन्ध बिगड़ते हुए देखे जाते हैं, जिसके कारण जीवन भार और आनन्दशून्य होता जाता है । संसार के काम-काज में जब यह सन्देह इतनी आपत्ति और संकट ला सकता है तब आध्यात्मिक क्षेत्र में तो यह हलाहल विष से भी अधिक प्रभावशाली होगा । इसलिए आदि सृष्टि के गुरुओं से

Adv. Vidit Chauhan Collection, Noida

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

लेकर आज तक के समस्त महायोगियों, धर्मगुरुओं और पुण्यात्माओं का यह उपदेश है कि इस सन्देह की कील को हर प्रकार से, जैसे भी सम्भव हो अपने दिल से बाहर कर दो।

वह शक=सन्देह का काँटा कैसे दूर हो ? इसका सबने एक ही उत्तर दिया है—यथार्थ ज्ञान से। इसलिए वैदिक अध्यात्मविज्ञान में प्रथम दो सीढ़ियाँ श्रवण (सुनना, यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना) और मनन (विचार, प्राप्त ज्ञान की समर्थक तर्कों और विच्छेदक प्रमाणों से जाँच-पड़ताल) बताई गई हैं। अध्यात्म में आत्मा तथा परमात्मा के सम्बन्ध में सच्चा ज्ञान सबसे आवश्यक है और इनमें भी परमात्मा के सम्बन्ध में तनिक-सी भी त्रुटि=भूल बहुत बड़ी हानि का कारण हो जाया करती है। इसीलिए वेदों में स्थान-स्थान पर परमात्मा के विभिन्न गुणों का वर्णन आया है। यजुर्वेद का यह अध्याय तो है ही आत्मा अर्थात् सर्वव्यापक परमात्मा का ज्ञान देने के लिए। इसलिए इसमें परमात्मा के इस गुण 'सर्वव्यापकता' का विशेषरूप से वर्णन है।

कई लोग परमात्मा को सर्वव्यापक न मानकर किसी स्थान विशेष में ही उसका घर बताते हैं, कोई चौथे आसमान पर, कोई सातवें आसमान पर, कोई उच्च आकाश पर, कोई पृथ्वी तल के नीचे, कोई क्षीरसागर में, कोई कैलास में, कोई गोलोक में, कोई बैकुण्ठ में और कोई पुष्कर में उसका ठिकाना बताता है। इससे परमात्मा सीमित हो जाता है, तब उस तक पहुँचने के लिए भौतिक साधनों का आविष्कार करना पड़ता है। इसी के कारण फरिश्तों, देव-दूतों, पैगम्बरों, अवतारों, नबियों, रसूलों और गुरुओं की सृष्टि होती है। इसके प्रतिकूल यदि परमात्मा को सर्वव्यापक, प्रत्येक स्थान पर विद्यमान, सर्वत्र वर्तमान और सर्वद्रष्टा माना जाए तो उससे मिलने के लिए किसी अन्य साधन की आवश्यकता नहीं रहती। सर्वत्र विद्यमान होने के कारण वह हमारे भीतर भी है। तब उसके दर्शन के लिए यात्रा और हज्ज की आवश्यकता भी नहीं रहती। परमात्मा के इस गुण को न जानने और न मानने के कारण करोड़ों मनुष्य भटक रहे हैं और सुपथ—सच्चे मार्ग से दूर जा

Adv. Vidit Chauhan Collection, Noida

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

पड़ते हैं। परमात्मा को सर्वव्यापक न माननेवालों ने अपनी-अपनी कल्पना के अनुसार परमात्मा की शक्ल=आकृति, रूप की कल्पना की है। इन विभिन्न आकृति और रूपों का विचार करते हुए हँसी भी आती है और मनुष्य की बुद्धि तथा कल्पना की उच्च उड़ान अथवा गिरावट पर 'वाह-वाह' कहने को भी जी चाहता है।

वेद परमात्मा को सर्वव्यापक मानता है और इसलिए उसे रंग, रूप एवं आकृति से रहित मानता है। जो सर्वत्र समान रूप से विद्यमान है उसकी आकृति और रूप हो भी नहीं सकता। इसलिए साधक को परमात्मा के स्वरूप को भली-भाँति अपने मस्तिष्क में बैठा लेना चाहिए। जब साधक के मस्तिष्क में यह बात अच्छी प्रकार बैठ जाएगी तब वह भीतर और बाहर सर्वत्र उसका दर्शन करेगा। उसे परमात्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रहेगा। मनुष्य पाप करते हुए एकान्त स्थान खोजता है जिससे उसे कोई देख न सके। परन्तु जब उसे यह दृढ़ विश्वास हो गया कि परमात्मा सर्वत्र विद्यमान है और सब कुछ देख रहा है तब पाप करने के लिए वह एकान्त क्यों खोजेगा, क्योंकि अब उसे दृढ़ निश्चय हो चुका है कि कहीं भी पाप करने से वह छिपा नहीं रह सकता। वह सर्वत्र विद्यमान परमेश्वर उसकी समस्त गतिविधियों, चेष्टाओं का द्रष्टा है। इसका ज्ञान होते ही उसका मन पाप से हट जाता है। अब उसके मन से सब सन्देह और संशय दूर हो चुके हैं। अब, जब उसे कोई सन्देह ही नहीं रहा तो वह कुमार्ग पर जाएगा ही कैसे?

इस मन्त्र में एक अत्यन्त सूक्ष्म बात कही गई है जिसे अनुवाद में प्रकट नहीं किया जा सकता। इसे चाहे उर्दू भाषा की दरिद्रता समझिए अथवा हमारी निर्बलता। इस रहस्य को यहाँ प्रकट करने का प्रयत्न करते हैं। मन्त्र में दो शब्द—'अनु+पश्यति' प्रयुक्त हुए हैं, जिनका अनुवाद 'देखता है' किया गया है। वस्तुतः यथार्थ=ठीक-ठीक अनुवाद है "बाद में या तत्पश्चात् देखता है।" भाव यह कि शब्दार्थ में 'अनु' का अनुवाद नहीं दिया जा सका। अब 'बाद में या तत्पश्चात्'

Adv. Vidit Chauhan Collection, Noida

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh
के रहस्य को समझने की आवश्यकता है। हम संसार में प्रतिदिन देखते हैं कि कोई भी कारीगर=शिल्पी ऐसी वस्तु नहीं बनाता, जिसकी संसारवालों के लिए बिल्कुल आवश्यकता न हो। इससे यह परिणाम निकला कि समाहृत=बनी हुई और मिश्रित वस्तुओं और उनके उपादान कारण की विद्यमानता किसी दूसरे के लिए होती है। जैसे वस्तुओं को बनाने के लिए बुद्धि की आवश्यकता होती है वैसे ही उन्हें प्रयोग करने के लिए भी बुद्धि चाहिए। तात्पर्य यह कि जिसके या जिनके लिए पदार्थों (वस्तुओं) का मिश्रण और निर्माण होता है, वे विवेकशील होते हैं। यह और बात है कि सबमें एक जैसा विवेक (ज्ञान, बुद्धि) न हो। विवेक एक जैसा न होने से उनके प्रयोग-विधि में भिन्नता और विरोध भी हो सकता है। इस प्रयोग-विधि में भिन्नता का कारण इच्छाओं की विभिन्नता भी है। इससे यह सिद्ध होता है कि इस निर्मित संसार में वस्तुओं का प्रयोग करनेवाले असंख्य हैं और उनकी इच्छाएँ भी भिन्न-भिन्न हैं। इस भिन्नता के कारण ही संसार में रंग-बिरंगी और विचित्रता है। ब्रह्म को सर्वव्यापक समझने के लिए उनका अर्थात् संसार के पदार्थों और उनके प्रयोगकर्ताओं का ज्ञान होना अत्यावश्यक है। यदि ये सांसारिक पदार्थ (वस्तुएँ), उनके उपादान-कारण और उनके प्रयोगकर्ता न हों तो परमात्मा सर्वव्यापक कैसे हो सकता है? सर्वव्यापक का अर्थ है 'सबमें अन्दर-बाहर रहनेवाला'। जब 'सब' ही नहीं तो 'सबमें...' कैसे? 'अनुपश्यति' शब्द के द्वारा इस रहस्य को प्रकट किया गया है। ब्रह्म की सर्वव्यापकता को जानने के लिए इस 'सर्व' (सबकुछ)' को जानना अत्यन्त आवश्यक है। जब साधक 'सर्व' को भली-भाँति समझ लेगा तब सर्वव्यापक का समझना सरल हो जाएगा। तात्पर्य यह कि इस नश्वर संसार के विनाशी स्वरूप तथा उसके मूलकारण (प्रयोजन) और अपने चेतनस्वरूप को जब तक साधक नहीं समझ पाता, तबतक उस परमतत्त्व को समझने के योग्य नहीं होता। जब वह इस अनन्त ज्ञात होनेवाले ब्रह्माण्ड की रचना और उसके नियम तथा व्यवस्था का सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन
Adv. Vidit Chauhan Collection, Noida

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

करता है, तब परमात्मा के अस्तित्व में, उसके सर्वव्यापक तथा सर्वः द्रष्टा होने में उसे किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता।

जब वह इस संसार के प्रयोजन का विचार करता है, तब उसकी अपने अस्तित्व सम्बन्धी आशंकाएँ और सन्देह भी दूर हो जाते हैं। फिर उसे यह संसार भोग-विलास, दुःख और कष्ट का घर प्रतीत नहीं होता अपितु उस आनन्दस्वरूप परमात्मा का निवास होने के कारण आनन्द का कारण बन जाता है। तब उसे यह विश्वास हो जाता है कि परमेश्वर ने यह संसार उसके कल्याण के लिए बनाया है। फिर वह पत्ते-पत्ते में उस आनन्दमय प्रभु के दर्शन करके स्वयं आनन्दमय बन जाता है और दूसरों को भी सुखी करता है। इस प्रकार वह भगवान् के दर्शन-अनुदर्शन करके सब सन्देहों से रहित हो जाता है। उपनिषद् में ठीक ही कहा है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

—मुण्ड० २।२।८

उस परमब्रह्म के दर्शन होने पर हृदय की गाँठ खुल जाती है, सब सन्देह मिट जाते हैं; बन्धन में डालनेवाले कर्म ढीले पड़ जाते हैं।

अनुपश्यति शब्द के द्वारा वेद भगवान् के दर्शन के पड़ाव भी वर्णित कर दिये हैं।

□

Adv. Vidit Chauhan Collection, Noida

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

ब्रह्मज्ञान से मोह और शोक का नाश

ओ३म्। यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनु पश्यतः।।७।।

शब्दार्थ—यस्मिन् जिस अवस्था में, जिस काल में **विजानतः** विज्ञानी के लिए **सर्वाणि** सब **भूतानि** पदार्थों पर **आत्मा** आत्मा **एव** ही **अभूत्** छा जाता है, **तत्र** उस अवस्था में **एकत्वम्** एकता, एकत्व का **अनु+पश्यतः** दर्शन करनेवाले को **कः** कैसा **मोहः** मोह और **कः** कैसा **शोकः** शोक।

व्याख्या—वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। यह सिद्धान्त सारे ऋषि-मुनियों को स्वीकार है और यह भी सभी मानते हैं कि विज्ञान, कर्म, उपासना और ज्ञान—ये चार विषय वेदों में प्रमुख रूप से हैं, शेष सारे विषय इनमें ही सम्मलित हैं। इन चारों में भी विज्ञान प्रधान है। 'विज्ञान' उसे कहते हैं जिससे कर्म, उपासना और ज्ञान इन तीनों का ठीक-ठीक प्रयोग करना और जिसके द्वारा ब्रह्म से लेकर तृणपर्यन्त समस्त पदार्थों का साक्षात् बोध प्राप्त करना तथा उनका यथार्थ (ठीक-ठीक) और उचित प्रयोग करना होता है। यही इसकी प्रधानता का कारण है।

पिछले मन्त्र में बतलाया जा चुका है कि ब्रह्म की सर्वव्यापकता का ज्ञान करने के लिए ब्रह्म के अतिरिक्त 'सर्व' का मानना और उसका ठीक-ठीक जानना भी अत्यन्त आवश्यक है। ब्रह्म की सर्वव्यापकता का जिसे अटल विश्वास है उसे 'विज्ञानी' कहते हैं। विज्ञानी अनुभव करता है कि ब्रह्म और केवल ब्रह्म ही संसार के समस्त पदार्थों पर छाया हुआ है। उसके अतिरिक्त और कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं, जो सबके अन्दर-बाहर समाया हुआ हो तथा सबको अपने आदेश के अधीन रख सकता हो। इस ज्ञान के कारण उसे एक नूतन दृश्य दिखाई

Adv. Vidit Chauhan Collection, Noida

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

देता है। वह है एकेश्वरवाद का दृश्य। अब उसकी दृष्टि से भेद तिरोहित (लुप्त) हो चुका है, दुई मिट गई है। उसे सर्वत्र एकत्व-ही-एकत्व (केवल ईश्वर-ही-ईश्वर) दिखाई देता है। यह अद्वैत-दर्शन बहुत विचित्र है। इसे समझने की आवश्यकता है। इसे न समझकर बड़े-बड़े विद्वान् भी अपने आपको ब्रह्म कहने लगते हैं। 'अहं ब्रह्म—मैं ही परमेश्वर हूँ'—यह स्वयं ब्रह्म होने की समस्या भी नासमझी के कारण उत्पन्न होती है। इस लिए इस अद्वैतवाद की वास्तविकता को अच्छी प्रकार हृदयंगम कर लेना चाहिए।

आप तनिक अपने ऊपर दृष्टि डालें तो अद्वैत की वास्तविकता तुरन्त स्पष्ट हो जाए। हम दो वस्तुएँ हैं—एक आत्मा और दूसरा शरीर। यह शरीर पहली दृष्टि (ऊपरी दृष्टि) में एक प्रतीत होता है, वस्तुतः यह अनेक वस्तुओं का समूह है। इसमें सिर है, ग्रीवा (गर्दन) है, छाती है, हाथ हैं, पेट है, पीठ है, रानें हैं, टाँगें हैं, पाँव हैं, हाथ हैं। सिर में मस्तक है, खोपड़ी है, आँखें हैं, कान हैं, नाक है, मुँह है। मुंह में दाँत और जिह्वा है। छाती में पसलियाँ हैं, हृदय है, फेफड़े हैं। पेट में गुर्दे हैं, जिगर हैं, तिल्ली है, आँतें हैं। हाथों में अँगुलियाँ है, पाँवों में अँगुलियाँ हैं फिर आगे उन अँगुलियों के पोरे हैं। तात्पर्य यह कि यदि शरीर के अवयवों और उनके खण्ड, प्रखण्डों की गणना करने लगें तो थक जाएँ, गिनना कठिन हो जाए और मानव-बुद्धि चकरा जाए। शेष बातों को जाने दें, सिर के बालों की संख्या ही कितनी बड़ी है परन्तु फिर भी शरीर एक है। इसका कारण है—वह है आत्मा। इस आत्मा के भोग का यह साधन है। आत्मा इस शरीर के सारे अंगों पर शासन करता है।

अब तनिक इस संसार के पदार्थों पर दृष्टि डालिए। परमात्मा न केवल सबका शासक है अपितु उनके भीतर और बाहर समाया हुआ है जिस प्रकार एक आत्मा के कारण असंख्य अवयवों का समूह होता हुआ भी शरीर एक है ठीक इसी प्रकार यह संसार जिसमें आत्माएँ भी सम्मलित हैं, एक क्यों न मान लिया जाए? अर्थात् जिस प्रकार हाथ-पैर

Adv. Vidit Chauhan Collection, Noida

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

आदि अवयव हैं उसी प्रकार समस्त चेतन और जड़ पदार्थों को प्रभु का शरीर मान लें और परमात्मा को आत्मा के स्थान में तब अद्वैत बना-बनाया है। जिस प्रकार नेत्र कान से घृणा नहीं करता, उसके कार्य को बिगाड़ता नहीं, आवश्यकता पड़े तो सहायता करने को तैयार रहते हैं, हाथ पैरों का विरोध नहीं करते, अपितु समय पड़ने पर उनकी सहायता करते हैं, इसी प्रकार यदि सारे मनुष्य अपने आपको परमेश्वर का शरीर मान लें तो जिस प्रकार आत्मा के शरीर के विभिन्न अंगों का आपस में कोई विरोध नहीं है इसी प्रकार परमात्मा के शरीररूपी आत्माओं का भी आपस में वैर-विरोध, घृणा और बेगानापन मिट जाता है। जब हम सब आत्माओं का अन्तरात्मा परमात्मा है तब हममें भेद, विरोध, वैर, ईर्ष्या-द्वेष रह ही कैसे सकता है, क्योंकि अब तो हम सब एक हो गये। भय अथवा शंका दूसरे से होती है, दूसरा तो अब कोई रहा नहीं। जिसने अद्वैत के इस प्रकार दर्शन कर लिये, सचमुच उसे मोह और शोक नहीं हो सकते।

अज्ञान के कारण राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं। राग-द्वेष के कारण मनुष्य संसार की कुछ वस्तुओं के साथ रिश्ता बना लेता है और कुछ से बेगाना (पराया) बन बैठता है। परायों से घृणा और अपनों से प्रेम करने लगता है। जिनको अपना समझ लेता है, उनके साथ प्रेम का नाम मोह है। जहाँ मोह है वहाँ शोक का होना अवश्यम्भावी है। ये दोनों एक-दूसरे के साथ सम्बद्ध (जुड़े हुए) हैं, अनन्योऽऽश्रित हैं। जिनके साथ प्रीति है, उनसे मेल होने पर हृदय में अनुराग का उत्पन्न होना अवश्यम्भावी है। इसी प्रकार उनके वियोग में दुःख, शोक उत्पन्न होना भी अनिवार्य कर्म है। जो आत्मा शोक और मोह का लक्ष्यस्थल बन रहा हो उसे हृदय की शान्ति कहाँ। एक के साथ प्रेम और दूसरे के साथ घृणा तभी तक रहती हैं जबतक ब्रह्म के उपर्युक्त अद्वैतवाद का दृढ़ विश्वास नहीं होता।

इस मन्त्र में भी पिछले मन्त्र की भाँति **'अनु+पश्यतः'** शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है। इसमें भी 'अनु' का अनुवाद नहीं दिया जा सका।

Adv. Vidit Chauhan Collection, Noida

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

यहाँ भी पिछले मन्त्र के समान विचार कर लेना चाहिए।

कई लोग कहते हैं कि यदि ब्रह्म के अतिरिक्त भी वस्तुएँ हैं तो फिर ब्रह्म का एकत्व (अद्वैत) कैसा ? इनकी सेवा में नम्र निवेदन है कि ब्रह्म के एकत्व से तात्पर्य है 'ब्रह्म का एक होना', ब्रह्म से भिन्न और किसी को ब्रह्म न मानना। यदि ब्रह्म के अतिरिक्त और किसी का अस्तित्व ही न हो तो ब्रह्म को अनुपम (उपमारहित) कहना व्यर्थ हो जाता है। किसी को अनुपम तभी कहा जा सकता है, जब उसके अतिरिक्त कोई और भी हो परन्तु उस जैसा, उसकी टक्कर का उनमें से कोई भी न हो। यदि वह अकेला ही हो तब उसे अनुपम कहने का कोई अर्थ नहीं।

बहुत-से लोग **'आत्मैवाऽभूत्'** का अर्थ करते हैं—'आत्मा ही हो जाता है', अर्थात् एक ऐसी अवस्था आ जाती है जबकि ज्ञानी समस्त वस्तुओं को आत्मा ही समझने लग जाता है, सबको ब्रह्म मानने लग जाता है। यह अर्थ ठीक नहीं है, यह अर्थ वैदिक भाष्यप्रणाली के विरुद्ध है। (इसका विस्तारपूर्वक वर्णन हमारे लिखे आत्म-उपनिषद् के भाषा-भाष्य में मिलेगा[१]) दूसरी आपत्ति इसपर यह आती है कि ऐसा ज्ञान यथार्थ है या मिथ्या। यदि यथार्थ है तो किस कारण से यह यथार्थ ज्ञान उसे पहले नहीं हुआ ? किस कारण से सर्वज्ञ ब्रह्म अपने स्वरूप को भूल बैठा। जब ब्रह्म के अतिरिक्त कोई था ही नहीं तो वह अपने आपको आत्मब्रह्म से पृथक् कैसे समझ बैठा ? इसलिए इसके वही अर्थ ठीक हैं, जो हमने किये हैं। हमारे अर्थों में एक प्रबल प्रमाण और भी है। वह यह कि वेद का यह सिद्धान्त होता तो इस अध्याय के आरम्भ में **'ईशा वास्यमिदँ सर्वम्'**—यह सब ईश्वर से बसा और ढका हुआ है न कहकर **'ईश एवेदं सर्वम्'**—यह सब कुछ ईश्वर ही है ऐसा उपदेश दिया होता।

---

१. 'आत्म-उपनिषद्' की चर्चा पीछे भी आई है। मेरे विचार में यह ग्रन्थ स्वामीजी लिख नहीं पाये। यदि किन्हीं के पास हो तो सूचित करें। (सम्पा०)

Adv. Vidit Chauhan Collection, Noida

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

चौथे और पाँचवें मन्त्र में स्पष्ट शब्दों में ब्रह्म से भिन्न वस्तुओं की सत्ता स्वीकार की गई है। इसलिए ब्रह्म से भिन्न किसी वस्तु का अस्तित्व स्वीकार न करके अपने आपको और उन समस्त वस्तुओं को ब्रह्म मानना असुर[1] सिद्धान्त है, वैदिक सिद्धान्त नहीं। वेद में एक अक्षर भी व्यर्थ और अर्थहीन प्रयुक्त नहीं होता। यदि ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य वस्तुएँ न होतीं तो इन दोनों मन्त्रों में 'अनुदर्शन' का आदेश न होता। 'तत्पश्चात् ब्रह्म के दर्शन'—यह वाक्य तभी सार्थक हो सकता है, जब ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य वस्तुएँ भी हों, जिनका जानना ब्रह्म-ज्ञान में लाभदायक है। वेद में 'अनु' शब्द का प्रयोग सार्थक है और यह बतलाता है कि ब्रह्म के अतिरिक्त भी वस्तुएँ हैं।

इसी प्रकार 'जानतः' से कार्य चल सकता था परन्तु वेद ने 'विजानतः' का प्रयोग किया। 'वि' का प्रयोग बताता है कि ब्रह्मज्ञानी-विज्ञानी होता है और विज्ञानी वह होता है जो ब्रह्म से तृणपर्यन्त सम्पूर्ण वस्तुओं की वास्तविकता को जानता हो। विज्ञानी का शाब्दिक अर्थ है—विभिन्न वस्तुओं को सबसे अधिक जाननेवाला। जब तक विभिन्न वस्तुएँ न हों तब तक विज्ञानी बनना असम्भव है। इसलिए अद्वैत का, एकत्व का वही अर्थ ठीक है जो हमने ऊपर किया है। सम्पूर्ण दुःखों से छुटकारा पाने के लिए ब्रह्म का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना अत्यावश्यक है, वह ज्ञान भी शाब्दिक नहीं, क्रियात्मक चाहिए।

इस मन्त्र के साथ ईशोपनिषद् का तीसरा अधिकरण समाप्त होता है। इस मन्त्र का भाष्य छान्दोग्य और बृहदरण्यक-उपनिषद् में याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी के संवाद में है। इससे अगले अधिकरण में ईश्वर के स्वरूप का वर्णन होगा।

---

१. संसार को मिथ्या माननेवालों को गीता १६।८ में भी आसुरी-सम्पत्ति में गिना है—

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।

वे [आसुरी सम्पत्तिवाले] संसार को मिथ्या, निराधार और ईश्वर के बिना मानते हैं। (सम्पा०)

Adv. Vidit Chauhan Collection, Noida

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

ईश्वर का स्वरूप

ओ३म् । स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम् । कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥८॥

शब्दार्थ—**सः** वह योगी **परि** सर्वत्र **शुक्रम्** निर्दोष और शीघ्रकारी **अकायम्** शरीर से रहित **अव्रणम्** त्रुटियों (कमियों) से रहित **अस्नाविरम्** सम्पूर्ण बन्धनों से मुक्त **शुद्धम्** पवित्र **अ+पाप+विद्धम्** पाप के लवलेश से भी पृथक् परमात्मा को **अगात्** प्राप्त करता है। वह परमात्मा **कविः** महाज्ञानी **मनीषी** मन के वृत्तान्त को भी जाननेवाला **परिभूः** सर्वत्र-विद्यमान, दुष्टों को दण्डदाता, **स्वयम्भूः** जिसका कोई कारण नहीं, अपनी **शाश्वतीभ्यः** सदा रहनेवाली, **समाभ्यः** प्रजाओं के लिए और प्रजाओं से (**शाश्वतीः समाः**) सदा **याथातथ्यतः** ठीक-ठीक **अर्थान्** पदार्थों को **व्यदधात्** बनाता है।

व्याख्या—पहले मन्त्र में परमात्मा को सबका शासक और सर्व-व्यापक बताकर उसकी आज्ञा के अनुसार चाल-चलन बनाने की शिक्षा प्रदान की गई। दूसरे मन्त्र में प्रथम मन्त्र की शिक्षा से उत्पन्न आक्षेपों का उत्तर देते हुए जीवनभर शुभकर्मों का उपदेश देकर तीसरे मन्त्र में इसके विरुद्ध चलनेवालों की अवस्था का वर्णन किया गया। चौथे और पाँचवें मन्त्र में परमात्मा का एकत्व (अद्वैत) और सर्वव्यापकता समझाई गई। छठे और सातवें मन्त्रों में ईश्वर के गुणों के ज्ञान के फल का वर्णन किया गया। इन सातों मन्त्रों में ईश्वर का वर्णन संकेत मात्र ही हुआ है। विस्तार से तो क्या, संक्षेप में भी वर्णन नहीं हुआ। "ईश्वर क्या है?" यह प्रश्न वैसे-का-वैसा बना रहा। इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए यह मन्त्र अवतरित हुआ है। इस मन्त्र में विस्तार से परमात्मा के उन गुणों का वर्णन हुआ है जिनका जानना और पहचानना साधक के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

Adv. Vidit Chauhan Collection, Noida

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सर्वप्रथम इस मन्त्र में परमात्मा के उन गुणों का वर्णन किया गया है जिनसे परमात्मा की शक्ति का बोध हो। उस 'शुक्र' अर्थात् परमात्मा को अपना कार्य करने में कोई देर नहीं लगती। इसका कारण यह है कि परमात्मा देह के बन्धन से मुक्त है। देह-बन्धन से मुक्त होने के कारण उसे देर नहीं लगती, इसीलिए यहाँ परमात्मा को **'अकायम्'** कहा गया है। जिसके शरीर होता है, उसके शरीर में न्यूनता-अधिकता, रोग, कष्ट, घाव, चोट आने की भी सम्भावना रहती है। जो शरीर से रहित है, उसमें इन दोषों की सम्भावना ही नहीं, अतः परमात्मा को इस मन्त्र में **'अव्रणम्'**—दोषों से मुक्त कहा गया है। जिसमें कोई कमी होती है, उसे दूर करने की इच्छा का उसमें होना स्वाभाविक बात है। जिसे इच्छाएँ सताती हैं, वह बन्धन में पड़ता है। वह आवागमन—जन्म और मृत्यु के चक्र में भी पड़ता है, क्योंकि उसमें कोई कमी नहीं, अतः उसमें किसी प्रकार की इच्छा भी नहीं। इच्छाओं से रहित होने के कारण वह समस्त बन्धनों से मुक्त है, अतः उसे **'अस्नाविरम्'** कहा गया है। जब वह शरीर के बन्धन से रहित है, समस्त दोषों से अछूता है और सम्पूर्ण बन्धनों से मुक्त है, तब उसके पवित्र होने में क्या सन्देह रह गया? इस बात को प्रकट करने के लिए उसे **'शुद्धम्'** कहा गया है। जो शुद्ध है, पवित्र है, वह पापों, दोषों से पृथक् तो स्वयं ही हो गया। इसमें पाप आ ही कैसे सकता है? पाप तो होता ही उससे है, जिसमें कोई इच्छा हो। इच्छाओं की पूर्ति के लिए मनुष्य सत्य (धर्म) के मार्ग से हट जाता है। धर्ममार्ग से च्युत होने का नाम ही पाप है। परमात्मा में जब इच्छाएँ ही नहीं हैं तब फिर उससे पाप या अपराध हो ही कैसे सकता है?

यहाँ एक प्रश्न और उत्पन्न होता है कि जड़ वस्तुएँ भी किसी प्रकार का पाप या अपराध नहीं कर सकतीं। इनमें किसी प्रकार की कोई इच्छा भी नहीं होती, तो इन वस्तुओं को परमात्मा क्यों न मान लिया जाए। इसका उत्तर देने के लिए कहा कि वह परमात्मा **'कविः'** भी है। कवि का अर्थ है जो गुप्त वस्तुओं का ज्ञान भी रखता है और दूसरों

Adv. Vidit Chauhan Collection, Noida

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh
को भी प्रत्येक प्रकार का ज्ञान दे सकता है और जो बहुत बड़ा बुद्धिमान्, महाज्ञानी है।

मन्त्र के पूर्वार्द्ध में वर्णित गुणों से जहाँ परमात्मा के अवतार लेने या उसके मनुष्य होने का निषेध है, वहाँ उसके भौतिक (प्राकृतिक) होने का भी खण्डन है। संसार में बहुत-से मनुष्य ऐसे मिलते हैं जिनकी बुद्धि और ज्ञान लोगों को आश्चर्यचकित कर देता है परन्तु वे दूसरे मनुष्यों के हृदय के विचारों को पूर्णरूप से नहीं जानते परन्तु परमात्मा, गुरुओं का गुरु परमात्मा, महाज्ञानी, सारे संसार का स्वामी सबके हृदय (मन) के विचारों से भी परिचित है अर्थात् यदि कोई मन में ही पाप करे और यह समझे कि 'मेरे इस पाप को कोई नहीं जान पाया'—वेद कहता है—ऐसा समझना उसकी मूर्खता है, भूल है, क्योंकि वह सर्व-व्यापक होने के साथ-साथ 'मनीषी'—मन के विचारों का भी जानने-वाला है। मनों का वृत्तान्त (मन के विचारों को) जानने का अर्थ यह हुआ कि वह आत्माओं के समस्त प्रकट और अप्रकट पाप-पुण्यों को जानता है। इसलिए वह सर्वव्यापक परमात्मा अपराधियों को दण्ड भी देता है अर्थात् वह **'परिभूः'** भी है। इतने गुणों का स्वामी होने पर भी वह किसी से उत्पन्न नहीं होता, वह अपने अस्तित्व के लिए किसी पर निर्भर नहीं है, किसी के अधीन नहीं है। वह **'स्वयम्भूः'** है। यदि परमात्मा के इन गुणों का ठीक-ठीक ज्ञान हो और वह दृढ़ विश्वास की सीमा तक पहुँचा हुआ हो तो मनुष्य कोई भी पाप कर ही नहीं सकता।

यद्यपि परमात्मा को सर्वव्यापक कहा गया है परन्तु अभी तक स्पष्ट शब्दों में 'सर्व' का वर्णन नहीं किया गया और न ही यह बताया गया कि वह 'सर्व' उत्पन्न होनेवाला है अथवा उत्पन्न न होनेवाला। निःसन्देह परमात्मा स्वयम्भू है परन्तु इसके साथ यह संसार भी तो स्वयम्भू है। इस सबका उत्तर देने के लिए मन्त्र का चौथा खण्ड है। इसमें बतलाया गया है कि उपर्युक्त गुणों से युक्त परमात्मा अनादि काल से अपनी जैसी अनादि प्रजा के लिए अनादि प्रकृति से ठीक-ठीक पदार्थों को और विद्याओं (वेदों) को बनाता है। संसार के स्वामी परमात्मा
Adv. Vidit Chauhan Collection, Noida

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

नें इस छोटे-से खण्ड में बहुत-सी बातों का वर्णन कर दिया।

'शास्वतीभ्यः, समाभ्यः' ये दोनों पद चतुर्थी और पञ्चमी दोनों विभक्तियों के रूप हैं। **'समाः'** शब्द का एक अर्थ है बराबरवाली। वेद और युक्ति दोनों इस बात को सिद्ध करते हैं कि जीवन और नित्यता में आत्मा और प्रकृति परमात्मा के बराबर (समान) हैं। परमात्मा भी सदा से है और सदा रहेगा। आत्माएँ और प्रकृति भी सदा से हैं और सदा रहेंगे। यदि आत्माओं और प्रकृति को अनादि और नित्य न मानकर उत्पन्न और नष्ट होनेवाली मानें तो परमात्मा सदा स्वामी सिद्ध नहीं होता। जब आत्माएँ और प्रकृति न थी, तब वह किनका स्वामी था। उसने किस वस्तु से आत्मा और प्रकृति की रचना की? क्यों की? उसे इनके बिना क्या कमी अनुभव हुई थी कि उसने इन्हें उत्पन्न किया—आदि-आदि ऐसे प्रश्न उत्पन्न होते हैं जिनका कोई उचित उत्तर नहीं मिलता। अर्थात् यही मानना पड़ा है कि परमात्मा भी अनादि और नित्य है और उसकी मलकियत और प्रजा, प्रकृति और आत्माएँ भी अनादि और नित्य हैं।

कई लोग इसपर आक्षेप किया करते हैं कि जब आत्माएँ और प्रकृति भी परमात्मा की भाँति अनादि और नित्य हैं तब परमात्मा की इन दोनों पर क्यों प्रधानता है? उसे इन दोनों से श्रेष्ठ क्यों माना जाए? ऐसा प्रतीत होता है कि आक्षेप करनेवाले समस्त समान अवस्था (आयु) वालों को एक-सी योग्यता और शक्तिवाले मानते हैं, अन्यथा यह आक्षेप न करते। परन्तु उनकी यह कल्पना दैनिक अनुभव और निरीक्षण के विरुद्ध है। क्या जिस दिन एक चक्रवर्ती सम्राट् का जन्म होता है, उस दिन, उसी क्षण और कोई बच्चा उत्पन्न नहीं होता? यदि उत्पन्न होते हैं तो इस चक्रवर्ती राजा और उसकी उत्पत्ति के समय जन्म लेनेवाले दूसरे बच्चों में इतना अन्तर क्यों है, क्योंकि आक्षेपकर्ता के कथनानुसार इन सबके समान आयु होने से इन सबमें किसी प्रकार का अन्तर नहीं होना चाहिए, परन्तु अन्तर है। इसलिए समान आयु होना समानता का कारण नहीं होता। प्रधानता और

Adv. Vidit Chauhan Collection, Noida

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

श्रेष्ठता (बड़प्पन) का कारण और है। परमात्मा सर्वज्ञ है, आत्मा अल्पज्ञ है और प्रकृति जड़ है, सुतराम् बुद्धि और ज्ञान के विषय में परमात्मा सबसे ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है। इसी प्रकार परमात्मा सर्वशक्तिमान् है। आत्मा अत्यन्त निर्बल है और प्रकृति में तो कोई शक्ति है ही नहीं। इसी प्रकार असंख्य गुणों के कारण परमात्मा आत्माओं और प्रकृति से प्रधान एवं श्रेष्ठ है।

परमात्मा अनादिता में अपने तुल्य जीवों के लिए, अनादिता (नित्यता) में अपने समान प्रकृति के परमाणुओं से उचित और आवश्यक अर्थों को रचता (बनाता, निर्माण करता) है। 'अर्थान्' शब्द का अर्थ है—'वस्तु और ज्ञान'। परमात्मा जीवों के भोग के लिए प्रकृति से संसार के सामान बनाता है और उन वस्तुओं के उचित (ठीक-ठीक) प्रयोग और आत्माओं को सच्चा मार्ग दिखाने के लिए सृष्टि के आरम्भ में वेद का ज्ञान प्रदान करता है। मन्त्र के चौथे खण्ड द्वारा 'अहं ब्रह्मास्मि—मैं ब्रह्म हूँ' इस समस्या का भी समाधान हो गया।

संक्षेप से मन्त्र में निम्न बातों का उपदेश है—

१. परमात्मा शरीर से रहित है, अतः उसकी कोई मूर्ति, चित्र आदि नहीं हो सकता, उसकी मूर्ति आदि बनाना परमात्मा का अपमान है।

२. वह समस्त कमियों से मुक्त है, अतः उसमें कोई इच्छा नहीं और वह सर्वव्यापक है, अतः उसका शरीर के बन्धन में आना अर्थात् अवतार धारण करना असम्भव और झूठ है।

३. उसमें किसी प्रकार का पाप नहीं हो सकता, वह अत्यन्त पवित्र है।

४. वह सर्वज्ञ है, सबकुछ जानता है। सर्वज्ञ होने के साथ वह मन की बात भी जानता है—अर्थात् मनुष्य उससे अपना कुछ भी नहीं छिपा सकता।

५. वह अनादि और अनन्त है, नित्य है। वह स्वयम्भू है। उसका कारण कोई नहीं।

Adv. Vidit Chauhan Collection, Noida

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

ने इस छोटे-से खण्ड में बहुत-सी बातों का वर्णन कर दिया।

'शास्वतीभ्यः, समाभ्यः' ये दोनों पद चतुर्थी और पञ्चमी दोनों विभक्तियों के रूप हैं। **'समाः'** शब्द का एक अर्थ है बराबरवाली। वेद और युक्ति दोनों इस बात को सिद्ध करते हैं कि जीवन और नित्यता में आत्मा और प्रकृति परमात्मा के बराबर (समान) हैं। परमात्मा भी सदा से है और सदा रहेगा। आत्माएँ और प्रकृति भी सदा से हैं और सदा रहेंगे। यदि आत्माओं और प्रकृति को अनादि और नित्य न मानकर उत्पन्न और नष्ट होनेवाली मानें तो परमात्मा सदा स्वामी सिद्ध नहीं होता। जब आत्माएँ और प्रकृति न थी, तब वह किनका स्वामी था। उसने किस वस्तु से आत्मा और प्रकृति की रचना की? क्यों की? उसे इनके बिना क्या कमी अनुभव हुई थी कि उसने इन्हें उत्पन्न किया—आदि-आदि ऐसे प्रश्न उत्पन्न होते हैं जिनका कोई उचित उत्तर नहीं मिलता। अर्थात् यही मानना पड़ा है कि परमात्मा भी अनादि और नित्य है और उसकी मलकियत और प्रजा, प्रकृति और आत्माएँ भी अनादि और नित्य हैं।

कई लोग इसपर आक्षेप किया करते हैं कि जब आत्माएँ और प्रकृति भी परमात्मा की भाँति अनादि और नित्य हैं तब परमात्मा की इन दोनों पर क्यों प्रधानता है? उसे इन दोनों से श्रेष्ठ क्यों माना जाए? ऐसा प्रतीत होता है कि आक्षेप करनेवाले समस्त समान अवस्था (आयु) वालों को एक-सी योग्यता और शक्तिवाले मानते हैं, अन्यथा यह आक्षेप न करते। परन्तु उनकी यह कल्पना दैनिक अनुभव और निरीक्षण के विरुद्ध है। क्या जिस दिन एक चक्रवर्ती सम्राट् का जन्म होता है, उस दिन, उसी क्षण और कोई बच्चा उत्पन्न नहीं होता? यदि उत्पन्न होते हैं तो इस चक्रवर्ती राजा और उसकी उत्पत्ति के समय जन्म लेनेवाले दूसरे बच्चों में इतना अन्तर क्यों है, क्योंकि आक्षेपकर्ता के कथनानुसार इन सबके समान आयु होने से इन सबमें किसी प्रकार का अन्तर नहीं होना चाहिए, परन्तु अन्तर है। इसलिए समान आयु होना समानता का कारण नहीं होता। प्रधानता और

Arya Mahila Chauhan Collection, Noida

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

श्रेष्ठता (बड़प्पन) का कारण और है। परमात्मा सर्वज्ञ है, आत्मा अल्पज्ञ है और प्रकृति जड़ है, सुतराम् बुद्धि और ज्ञान के विषय में परमात्मा सबसे ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है। इसी प्रकार परमात्मा सर्वशक्तिमान् है। आत्मा अत्यन्त निर्बल है और प्रकृति में तो कोई शक्ति है ही नहीं। इसी प्रकार असंख्य गुणों के कारण परमात्मा आत्माओं और प्रकृति से प्रधान एवं श्रेष्ठ है।

परमात्मा अनादिता में अपने तुल्य जीवों के लिए, अनादिता (नित्यता) में अपने समान प्रकृति के परमाणुओं से उचित और आवश्यक अर्थों को रचता (बनाता, निर्माण करता) है। 'अर्थान्' शब्द का अर्थ है—'वस्तु और ज्ञान'। परमात्मा जीवों के भोग के लिए प्रकृति से संसार के सामान बनाता है और उन वस्तुओं के उचित (ठीक-ठीक) प्रयोग और आत्माओं को सच्चा मार्ग दिखाने के लिए सृष्टि के आरम्भ में वेद का ज्ञान प्रदान करता है। मन्त्र के चौथे खण्ड द्वारा 'अहं ब्रह्मास्मि—मैं ब्रह्म हूँ' इस समस्या का भी समाधान हो गया।

संक्षेप से मन्त्र में निम्न बातों का उपदेश है—

१. परमात्मा शरीर से रहित है, अतः उसकी कोई मूर्ति, चित्र आदि नहीं हो सकता, उसकी मूर्ति आदि बनाना परमात्मा का अपमान है।

२. वह समस्त कमियों से मुक्त है, अतः उसमें कोई इच्छा नहीं और वह सर्वव्यापक है, अतः उसका शरीर के बन्धन में आना अर्थात् अवतार धारण करना असम्भव और झूठ है।

३. उसमें किसी प्रकार का पाप नहीं हो सकता, वह अत्यन्त पवित्र है।

४. वह सर्वज्ञ है, सबकुछ जानता है। सर्वज्ञ होने के साथ वह मन की बात भी जानता है—अर्थात् मनुष्य उससे अपना कुछ भी नहीं छिपा सकता।

५. वह अनादि और अनन्त है, नित्य है। वह स्वयम्भू है। उसका कारण कोई नहीं।

Adv. Vidit Chauhan Collection, Noida

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

६. इस संसार को वही रचता है और जीवों को उनके कर्मफल देने के लिए रचता है।

७. वह असत् से सत् को प्रकट नहीं करता अपितु जैसे वह अनादि और नित्य है उसी प्रकार आत्माएँ और प्रकृति भी अनादि और नित्य हैं।

८. आत्माओं और प्रकृति के अनादि और अनन्त होने से संसार का भी प्रवाह से अनादि और अनन्त होना सिद्ध हो जाता है।

९. जैसे परमात्मा जीवों को कर्मफल देने के लिए संसार की रचना करता है वैसे ही वह सभी वस्तुओं के सही प्रयोग और जीवों को सत्य मार्ग दिखाने के लिए उन्हें सृष्टि के आरम्भ में वेद का ज्ञान भी देता है।

१०. उसकी रचना ठीक-ठीक और उचित अर्थात् जीवों की आवश्यकताओं के अनुसार होती है। इसमें कोई त्रुटि नहीं होती।

इस मन्त्र के साथ ईशोपनिषद् का चौथा अधिकरण समाप्त हुआ।

□

Adv. Vidit Chauhan Collection, Noida

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

ईश्वर से भिन्न की उपासना का फल

ओ३म्। अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्या ँ रताः ॥९॥

शब्दार्थ—**ये** जो **असम्भूतिम्** असम्भूति, उत्पन्न न होनेवाली प्रकृति की उपासते उपासना करते हैं, पूजा करतें हैं वे **अन्धम्** घोर **तमः** अन्धकार में **प्रविशन्ति** प्रवेश करते हैं और **ते** वे **ततः** उससे भी **भूय**+**इव** मानो बढ़कर, अधिक **तमः** अन्धकार में प्रविष्ट होते हैं **ये** जो **सम्भूत्याम्** भौतिक पदार्थों में **रताः** लगे रहते हैं, डूबे रहते हैं।

व्याख्या—परमेश्वर की उपासना, अराधना और पूजा सभी करना चाहते हैं परन्तु परमेश्वर तक पहुँच नहीं पाते। अध्यात्म के मार्ग में एक विचित्र उलझन सामने आती है कि बिना उपासना के परमात्मा का दर्शन प्राप्त नहीं होता और बिना दर्शन के उपासना लगभग असम्भव है। जब यह उलझन सामने आती है तब बहुत-से अध्यात्म पथ के पथिक मार्ग चलना छोड़ बैठते हैं, इनकी बुद्धि कुण्ठित हो जाती है। दूसरे ऐसे हैं, जो यह सोचते हैं कि संसार में कारण और कार्य का सिद्धान्त कार्य करता दृष्टिगोचर होता है। जब हम संसार में किसी मिश्रित (संयुक्त) वस्तु को लेते हैं, तब इसके खण्ड (भाग, टुकड़े) प्रतीत होते हैं। उन खण्डों के भी खण्ड। इसी प्रकार दूर तक यह क्रम चला जाता है और अन्त में इनकी बुद्धि इन्हें बतलाती है कि इस क्रम को कहीं भी समाप्त न करें तो संसार की सभी वस्तुएँ—राई हो या पहाड़ बराबर (एक समान) होने चाहिए क्योंकि जैसे पहाड़ के खण्ड समाप्त नहीं होते, वैसे ही राई के भी। अतः स्वीकार करना पड़ता है कि संयुक्त वस्तु के अविभाज्य खण्ड परमाणु कहलाते हैं। वे इन आँखों से तो क्या दूरवीक्षण (दूरबीन) और सूक्ष्मदर्शक (खुर्दबीन) की सहायता से भी दिखाई नहीं देते। ऐसे लोग इस कारण और कार्य के क्रम में ऐसे डूबे हुए (बेसुध)

Adv. Vidit Chauhan Collection, Noida

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh
होते हैं कि उन्हें प्रकृति और प्राकृतिक पदार्थों के अतिरिक्त और किसी वस्तु का भान ही नहीं होता और क्योंकि प्रकृति उन्हें समस्त संयुक्त (मिश्रित, निर्मित) पदार्थों का कारण प्रतीत होती है, अतः वे केवल प्रकृति की वास्तविकता और सत्यता का ज्ञान प्राप्त करने में अपना जीवन लगा देते हैं। प्रकृति से भिन्न चेतन की ओर उनका ध्यान जाता ही नहीं। इनकी बुद्धि की दशा तथा तर्कशैली कुछ इस प्रकार की हो जाती है कि वे प्रकृति के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करते। यदि उनसे पूछा जाए—"श्रीमन् ! संसार में तो चेतन और जड़ दो प्रकार के पदार्थ हैं। मिट्टी का ढेला, पत्थर, सोना, चाँदी, मोती, हीरा, लाल, जवाहर—जड़ हैं—इनमें संवेदनशक्ति है ही नहीं। इस अत्यन्त स्पष्ट अन्तर की विद्यमानता में आप प्रकृति से भिन्न चेतन के अस्तित्व से कैसे इन्कार कर सकते हैं। इस आक्षेप के उत्तर में वे प्रकृति के दो भेद मान लेते हैं। ऐसे प्रकृतिपूजों के सम्बन्ध में वेद का उपदेश है—कि वे घोर अन्धकार में डूबते हैं। बात है भी सत्य, क्योंकि जो जड़ प्रकृति में ही मग्न रहता है, प्रकृति से ऊपर उठकर जिसने आध्यात्मिक ज्योति का कभी भी दर्शन नहीं किया, वह अन्धकार के अतिरिक्त और रहेगा कहाँ ?

कई लोग ऐसे हैं जो इस संसार की चित्र-विचित्र वस्तुओं को देख कर मस्त हो जाते हैं। आहा ! सोचो, पृथिवी में कितनी शक्ति है। जब से संसार बना है, सभी प्राणियों को भोजन प्रदान कर रही है। संसार की जनसंख्या प्रतिदिन बढ़ रही है। परन्तु भूमिमाता सबके लिए सामग्री उपलब्ध किये जा रही है। इस प्रकार सूर्य और चन्द्रमा के सम्बन्ध में भी विचार कर लें। ये सृष्टि के आदि से प्रकाश देते आ रहे हैं परन्तु इनके प्रकाश की मात्रा में रत्तीभर (तनिक-सी) भी कमी नहीं आई। इनकी इस अद्वितीय शक्ति और अन्य गुणों के कारण ऐसे लोग इनको अपना उपास्य बना लेते हैं। इनकी पूजा करते हैं, इनसे मन्नत माँगते हैं, उनके समक्ष भेंट धरते हैं, उनकी प्रसन्नता प्राप्त करने के लिए पशु-पक्षी आदि प्राणियों तक का बलिदान करते हैं। इनको पानी देते हैं।
Arya Samaj Chaubatta Collection, Noida

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

इनका अनुकरण करते हुए कई लोग इनकी मूर्ति बनाकर मन्दिर बनाते हैं और इन मन्दिरों में मूर्तियों को स्थापित करते हैं। इनके समक्ष घण्टे, घड़ियाल और शंख बजाते हैं। अनेक प्रकार की खाने की वस्तुएँ भेंट चढ़ाते हैं। ये सबके सब सम्भूति के पुजारी हैं। वेद कहता है—ये असम्भूति के पुजारियों से भी अधिक गहन अन्धकार में गिरेंगे, क्योंकि असम्भूति के पुजारी गवेषणा (खोज) करते-करते कम-से-कम ऐसे पदार्थों तक तो पहुँचे, जिनका कभी नाश नहीं होता, जो नित्य हैं। जो लोग अनित्य वस्तुओं की उपासना (पूजा) करते हैं, उनकी बुद्धि पर गहरा पर्दा पड़ा हुआ है। यदि उनकी बुद्धि पर पर्दा न पड़ा होता तो वे अवश्य ही सोचते कि जो उत्पन्न वस्तु है, वह नित्य कैसे हो सकती है? वह तो एक दिन नष्ट हो जाएगी। इसलिए आवागमन (जीवन और मृत्यु) के फंदे से छुटकारा पाने का इच्छुक तो ऐसे उपास्य की पूजा (उपासना) करना पसन्द करेगा जो जीवन और मरण के चक्र से मुक्त हो। बुद्धिमान् सोचेगा—'जिसको मैं अपने हाथों इस ईंट, पत्थर, गारे, चूने के मन्दिर में बैठा रहा हूँ, वह मेरा अन्नदाता कैसे? मेरा रक्षक कैसे? इसको तो मैं नैवेद्य भेंट करता हूँ। इसकी सुरक्षा का प्रबन्ध भी मैं करता हूँ।' जब वह ऐसा सोचेगा, तब उसकी पूजा छोड़ देगा। जो ऐसा चिन्तन और मनन नहीं करता अथवा जिसका ध्यान इधर गया ही नहीं, वह अन्धकार में नहीं तो कहाँ है, क्योंकि यदि वह ज्ञान के प्रकाश से प्रदीप्त होता तो अवश्य ऐसा सोचता।

यहाँ उपासना का अर्थ समझ लेना चाहिए, जिससे किसी प्रकार का भ्रम या सन्देह न रहे। उपासना का अर्थ है, निकट बैठना। जिस मनुष्य को सरदी सता रही है, उसे गरमी चाहिए। वह आग की उपासना करता है, आग के समीप जा बैठता है। आग की गर्मी इसके भीतर प्रविष्ट होकर इसके शरीर की सरदी को दूर कर देती है। जो व्यक्ति गरमी से घबराता है वह उसे दूर करने के लिए किसी ठण्डे स्थान पर जाता है अथवा किसी नदी-बहुल क्षेत्र (जहाँ नदियाँ बहुत हों) में जाता है। इन दो उदाहरणों से यह सिद्ध होता है कि जिसकी उपासना

Arya Nidhi Chaudhary Collection, India

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

की जाती है, उस उपास्य के गुण उपासक में आते हैं। जो मनुष्य जड़ प्रकृति की उपासना करेगा उसमें जड़ता की ही वृद्धि होगी अर्थात् निरन्तर ज्ञान की कमी ही होगी और ज्ञान की कमी, बुद्धिहीनता का ही नाम अन्धकार है।

यद्यपि भौतिक पदार्थों (वस्तुओं) का कारण भी प्रकृति ही है, परन्तु दोनों की उपासना का फल भिन्न-भिन्न होता है, इस रहस्य को समझाने के लिए अगला मन्त्र है—

ओ३म्। अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात्।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद् विचचक्षिरे ॥१०॥

शब्दार्थ—सम्भवात् सम्भव से, सम्भूति से अर्थात् भौतिक पदार्थों की पूजा से **अन्यत्** दूसरा (फल) **आहुः** कहते हैं और **असम्भवात्** असम्भव से, असम्भूति से अर्थात् प्रकृति की उपासना से **अन्यत्** दूसरा, भिन्न (फल, परिणाम) **आहुः** कहते हैं। **इति** ऐसा हम उन **धीराणाम्** ज्ञानियों, बुद्धिमानों से सुनते हैं **ये** जो **तत्** उस रहस्य को हमें **विचचक्षिरे** विस्तारपूर्वक बताते हैं, समझाते हैं।

व्याख्या—इससे पूर्व मन्त्र में सम्भूति और असम्भूति के उपासकों के लिए घोर अन्धकार ही बताया गया है यद्यपि दोनों के स्तर में अन्तर अवश्य है। इस मन्त्र में दोनों का परिणाम (फल) भिन्न-भिन्न बताया गया है। इससे दोनों मन्त्रों में विरोध प्रतीत होता है परन्तु ध्यान से देखा जाए, गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाए तो दोनों मन्त्रों के तात्पर्य में कोई अन्तर नहीं है। प्रकृति और भौतिक पदार्थ—दोनों जड़ हैं, अतः दोनों के उपासकों में जड़ता की वृद्धि होगी परन्तु इनके प्रयोग का एक और फल भी है। प्रकृति का उपासक जब उसके गुणों को जान जाता है, तब वह उसका इस प्रकार प्रयोग करता है कि इससे (प्रकृति से) इसे और दूसरों को शारीरिक लाभ प्राप्त होता है। क्योंकि वह सारे संसार को प्रकृति का कार्य समझता है तथा कारण और कार्य के क्रम को समझकर नये-नये भौतिक पदार्थों का निर्माण करता जाता है, जिससे संसार की सुख-समृद्धि में सहायता पहुँचती है। इसके विरुद्ध जो

CC-0. Vidit Chauhan Collection, Noida

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

केवल भौतिक पदार्थों से कार्य लेता है, तात्पर्य यह कि स्वयं संसार की भौतिक उन्नति में सहायता न करके दूसरों के आविष्कारों से लाभान्वित होता रहता है, ऐसा निकम्मा और आलसी मनुष्य पराश्रित (दूसरों पर निर्भर) होता है, अतः वह अधिक अन्धकार में होता है। जो जितना आत्मा से दूर होता है और शरीर के पालन-पोषण में तत्पर रहता है, उतना ही वह दूसरों के आश्रित होता है। जितनी जिसकी आवश्यकताएँ अधिक, उतना ही अधिक वह बन्धन में होता है। बन्धन में सुख कहाँ ? इस दृष्टि से इस मन्त्र में कहा—कि दोनों के परिणाम भिन्न-भिन्न हैं। इस बात को अगले मन्त्र में और विस्तारपूर्वक कहा गया है।

यहाँ एक प्रश्न उत्पन्न होता है कि वेद तो अनादि हैं, नित्य हैं। उनका अवतरण सृष्टि के आदि में हुआ फिर इनमें विस्तारपूर्वक बतानेवाले और सुननेवाले कहाँ से आ गये ? इसका उत्तर यह है कि वेद सब प्रकार की शिक्षा देता है। इस मन्त्र में वेद ने सिखाया कि ब्रह्म विद्या का क्रम परम्परा से अनादि है। इसमें गुरुशिष्य का प्रकार है। अध्यात्म के पड़ावों को तै कर चुकनेवाले यदि किसी अध्यात्म-पथ के पथिक को कोई प्रकृति अथवा भौतिक पदार्थों में उलझा रखना चाहे तो उसे वह अध्यात्म-पथ का पथिक उपर्युक्त मन्त्र में वर्णित उत्तर दे।

दोनों—प्रकृति और उसके कार्य (भौतिक पदार्थों) की अलग-अलग उपासना का फल बताया गया। अब इनकी एक साथ उपासना का फल बताते हैं—

ओ३म्। सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभय ँ सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते ।।११।।

शब्दार्थ—**यः** जो **सम्भूतिम्** सम्भूति को **च** च और **विनाशम्** नाश को, असम्भूति को **तत्** उन **उभयम्** दोनों को **सह** साथ, इकट्ठा **वेद** जानता है वह **विनाशेन** विनाश, असम्भूति के द्वारा **मृत्युम्** मृत्यु, प्रमाद, आलस्य को **तीर्त्वा** तर करके **सम्भूत्या** सम्भूति के द्वारा **अमृतम्** अमृत को, जीवन को **अश्नुते** प्राप्त करता है।

Adv. Vidit Chauhan Collection, Noida

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

व्याख्या—इस ग्यारहवें मन्त्र में परमात्मा के वास्तविक स्वरूप का वर्णन किया गया है। इसका भाव यह है कि परमात्मा की उपासना के लिए उसके वास्तविक गुणों का ज्ञान होना चाहिए और उसकी ही उपासना से मनुष्य को सच्चा सुख और आनन्द मिल सकता है। नवें तथा दसवें मन्त्र में अनात्मा (प्रकृति और प्राकृतिक वस्तुओं) की उपासना का फल बताया गया। इस ग्यारहवें मन्त्र में अनात्मा (जड़ पदार्थों) की दो अवस्थाओं को इकट्ठा जानकर उनकी उपासना का परिणाम बताया है।

यदि मनुष्य कारण-कार्य के क्रम को निरन्तर ध्यान में रखे तो उसकी अवस्था बिल्कुल भिन्न होगी। सूक्ष्म निरीक्षण से यह बात सिद्ध होती है कि कारण कई प्रकार के होते हैं। आओ, एक घड़े को देखें। घड़ा मिट्टी से बनाया गया है अर्थात् मिट्टी के कण या मिट्टी घड़े का एक कारण है। क्या केवल मिट्टी के कणों से ही घड़ा बन जाता है? यदि केवल मिट्टी के कण ही घड़ा बनाने के लिए पर्याप्त होते तो सारे संसार की मिट्टी ने घड़ों का रूप ग्रहण कर लिया होता। परन्तु हम देखते हैं कि मिट्टी से घड़े बनते हैं, सुराहियाँ बनती हैं, ईंटें बनती हैं और अन्य सैकड़ों वस्तुएँ बनती हैं। यह तो बनानेवाले की इच्छा पर निर्भर है कि वह मिट्टी से जो वस्तु चाहे बना ले। इससे यह सिद्ध हुआ कि घड़ा बनाने के लिए मिट्टी के कणों को एक विशेष रीति (ढंग) से एक विशेष रूप देना होगा। यह बिना ज्ञान (बुद्धि) के असम्भव है अर्थात् घड़ा बनाने के लिए मिट्टी के अतिरिक्त मिट्टी के कणों में जब तक विशेष क्रम (प्रबन्ध) न हो और क्रम देने (बनाने) वाला न हो तब तक घड़ा बनना असम्भव है। कोई भी निर्मित वस्तु उपादानकारण और निमित्तकारण के बिना नहीं बन सकती। इस प्रकार जो बुद्धिमान् (विवेकशील) इस संसार में बनावट और क्रम को देखता है तो जहाँ वह इसके उपादानकारण तक पहुँचता है वहाँ वह अपने निरीक्षण के अनुसार इसके निमित्तकारण की भी गवेषणा (खोज) करता है। निमित्तकारण के बिना उसे बनावट तथा क्रम

Adv. Vidit Chauhan Collection, Noida

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh
असम्भव प्रतीत होता है और निमित्तकारण इसे दिखाई नहीं देता। वह एक सच्चे अन्वेषक की भाँति उसकी खोज में लग जाता है। यह खोज उसे परमात्मा के दर्शन करा देती है और उसे विश्वास हो जाता है कि वह सर्वज्ञ, सर्वव्यापक आदि है।

मनुष्य प्रतिदिन लाखों वस्तुएं बनाते हैं परन्तु आज तक किसी मनुष्य ने कोई ऐसी वस्तु नहीं बनाई जिसकी मनुष्यों को आवश्यकता न हो। अपने इस निरीक्षण को यदि वह आदिस्रष्टा प्रभु की शल्प (सृष्टि) पर प्रयुक्त करता है तो उसे संसार में कोई वस्तु व्यर्थ और निष्प्रयोजन दिखाई नहीं देती। चिन्तन और मनन से वह यह निष्कर्ष निकालता है कि एक तो यह संसार अर्थात् सम्भूति है, उत्पन्न (निर्मित) हुई वस्तुएँ हैं, दूसरे इस संसार का, सम्भूति का उपादानकारण, सूक्ष्म प्रकृति, असम्भूति, असम्भव, विनाश है। एक वह जिसके लिए यह संसार रचा गया है तथा इसके अतिरिक्त वह जिसने यह सारा संसार रचा। जब वह इस परिणाम पर पहुँचता है तब उसकी अवस्था बदल जाती है।

वह देखता है कि यह संसार प्रतिक्षण परिवर्तित हो रहा है। यहाँ कोई भी वस्तु स्थायी नहीं है। वह इस नाटक (संसाररूपी क्रीड़ा) के नेपथ्य में किसी स्थायी, अविनाशी शक्ति की खोज करता है। उसे मूल प्रकृति का अनुभव होता है परन्तु उसे वह अचेतन (जड़) पाता है। वह स्वयं चेतन है परन्तु सारा संसार जिससे निर्मित होता है वह जड़ है। इस प्रकृति से उसे अपने शरीर की आवश्यकताएँ पूर्ण होती हैं परन्तु वह अपने आपको शरीर से पृथक् अनुभव करता है। सम्पूर्ण प्रकृति और सारे भौतिक पदार्थ मिलकर भी इसकी इच्छापूर्ति नहीं कर पातीं। प्रकृति और भौतिक पदार्थों के विषय में चिन्तन व मनन ने इसे अपनी पृथक् आत्मसत्ता का बोध कराया है। प्रकृति की अपेक्षा चेतनता, अनुभवशीलता और ज्ञान के कारण वह अपने को प्रकृति से श्रेष्ठ समझता है। वह स्वयं भी प्रायः प्रकृति और भौतिक वस्तुओं को अपनी इच्छा के अनुसार प्रयुक्त करता है। इससे इसे यह अनुभव होता
Adv. Vidit Chauhan Collection, Noida

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

है कि यह प्रकृति और प्राकृतिक (भौतिक) पदार्थ मेरे लिए हैं। जैसे ही इसे वास्तविकता का ज्ञान होता है, प्रकृति और प्राकृतिक पदार्थों के सम्बन्ध में इसका दृष्टिकोण बिल्कुल बदल जाता है। अब वह उन्हें अपना उपास्य न मानकर अपना दास समझने लगता है। उसे अब विश्वास हो जाता है कि प्यारे प्रभु ने संसारी माता-पिता से भी अधिक प्यार करनेवाले प्रभु ने यह सारी सृष्टि रची ही मेरे भोग के लिए है। इस विचार के आते ही उसकी काया पलट जाती है। उसे चिन्तन करने से ज्ञात होता है कि जिस प्रकार मिश्रित (बनी हुई) वस्तुओं का उपादानकारण (प्रकृति) अपने मूलरूप में अविनाशी है, नित्य है, इसी प्रकार इस प्रकृति को भोग करनेवाला भी तो नित्य होना चाहिए। जिस प्रकार प्रकृति की अवस्थाएँ विभिन्न प्रभावों और कारणों से परिवर्तित होती रहती हैं, इसी प्रकार आत्मा की भी पुण्य-पाप के कारण अवस्थाएँ परिवर्तित भले ही हों परन्तु वस्तुतः वह है नित्य और अपरिवर्तनशील।

इस बात का दृढ़ विश्वास होने पर वह मृत्यु से निर्भय हो जाता है। अब वह मृत्यु को अन्य ही रूप में देखता है। अब उसे मृत्यु परमात्मा के कोप के रूप में दृष्टिगोचर नहीं होती अपितु जगदम्बा की वास्तविक कृपा और प्रेम प्रतीत होती है। माता बच्चे को दूध पिलाने के लिए एक स्तन में उसका मुँह लगा देती है। बच्चा दूध पीते-पीते उस स्तन का सारा दूध पी ले और उसकी भूख न मिटे, बच्चे को तो पता नहीं होता कि इस स्तन में दूध नहीं परन्तु माँ को पता लग जाता है कि इसमें दूध नहीं। बच्चे की भूख को मिटाने के लिए माँ उसको इस स्तन से हटाकर दूसरे स्तन की ओर ले जाती है। मूर्ख बच्चा समझता है कि मुझसे मेरी भोजन सामग्री छीन ली गई, अतः वह रोता है परन्तु वास्तव में तो माँ उसकी भूख मिटाने का प्रबन्ध कर रही है। ठीक यही अवस्था मृत्यु की है। जगद्धारणी, जगत्तारणी माता ने जीवरूपी बच्चे को एक शरीर रूपी स्तन से लगा रखा है। इस शरीर रूपी स्तन में भोग रूपी दूध समाप्त हो जाता है परन्तु जीव

Adv. Vidit Chauhan Collection, Noida

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

रूपी बच्चे की भूख नहीं मिटती। सर्वज्ञ माता बच्चे को इस शरीर-रूपी स्तन से हटाकर दूसरे शरीररूपी स्तन से लगाने का प्रबन्ध करती है। यह भोला जीव समझता है कि मुझसे मेरे जीवन की सामग्री छीनी जा रही है। अरे! छीनी कहाँ जा रही है, नूतन सामग्री देने की तैयारी हो रही है। भला, जिसे ऐसा विश्वास हो जाए उसे मृत्यु का भय कैसे भयभीत कर सकता है? वह तो मृत्यु का स्वागत ही करेगा। तभी वेद ने कहा कि **"विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा"** विनाश, दिखाई न देनेवाले कारणरूपी असम्भूति नामक प्रकृति के तत्त्वज्ञान से वह मौत से परे हो जाता है।

मृत्यु का भय नहीं रहा और यह दृढ़ निश्चय हो चुका है कि समस्त भौतिक पदार्थ आत्मा के भोग के लिए हैं, तब वह इन पदार्थों का उचित प्रयोग करता है। इनसे अपने जीवन को अधिक-से-अधिक सुखमय बनाता है। क्योंकि इसे यह भी विश्वास हो चुका है कि जितना जीव का भोग है, उतना ही मिलेगा। कितनी ही बेईमानी की जाए और कितने ही अनुचित उपाय प्रयोग में लाये जाएँ मिलेगा उतना ही जितना भोग है, तब वह समस्त पापों से दूर हो जाता है। पाप करने का विचार भी उसके मन में नहीं आता। इससे इसका जीवन आनन्द से भरपूर हो जाता है और वह जो भी कार्य करता है उसे प्रभु का आदेश समझकर करता है। सृष्टि विज्ञान ने स्वार्थपरता को इसके जीवन से निकालकर फेंक दिया है। जिस सामग्री को पहले वह भोग-विलास का सामान समझ रहा था, अब इसके लिए मोक्ष की सामग्री बन गई है। शरीर को नीरोग एवं स्वस्थ रखने के लिए जितनी आवश्यकता है, उतना ही वह प्रकृति और भौतिक पदार्थों से काम लेता है। भोग-भावना हटकर योग-योजना इसके हृदय में पैदा होती है और वह योगदर्शन (२।१८) के **"भोगापवर्गार्थं दृश्यम्**—यह संसार भोग और मोक्ष के लिए है"—इस सिद्धान्त को हृदय में रखकर इस संसार को मोक्ष का साधन बनाकर मुक्त हो जाता है। यह सम्भूति और असम्भूति—दोनों को एकसाथ विचारने का परिणाम है।

इसके साथ ईशोपनिषद् का पाँचवाँ अधिकरण समाप्त होता है।

Adv. Vidit Chauhan Collection, Noida

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

कर्म और ज्ञान

ओ३म् । अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाᳬरताः ॥१२॥

शब्दार्थ—वे लोग **अन्धं+तमः** घोर अन्धकार में **प्रविशन्ति** प्रवेश करते हैं **ये** जो **अविद्याम्** अविद्याकर्म की, तप की **उपासते** उपासना करते हैं और **ते** वे **ततः** उससे भी **भूयः+इव** मानो बढ़कर **तमः** अन्धकार में प्रविष्ट होते हैं, **ये** जो **विद्यायाम्** विद्या में, ज्ञान में **उ** ही **रताः** निमग्न, डूबे रहते हैं ।

व्याख्या—शास्त्रों में विज्ञान, कर्म, उपासना और ज्ञान—ये चार काण्ड बताये गये हैं । विज्ञान और ज्ञान में बहुत थोड़ा अन्तर है । उपासना भी कर्म का ही एक प्रकार है । शेष रह गये कर्म और ज्ञान । कई लोग ऐसे हैं जो केवल कर्म ही करते हैं । दिन-रात किसी-न-किसी काम में वे लगे रहते हैं । वे इस कर्म की वास्तविकता (क्या है, कैसा है, किस प्रकार का है) तथा परिणाम और कर्म की विधि को जानने की तनिक भी चिन्ता नहीं करते । वेद कहता है—ऐसे लोग घोर अन्धकार में प्रविष्ट होते हैं । कई ऐसे होते हैं जो ज्ञान के गपोड़े ही हाँकते रहते हैं, करने-धरने से उनका कोई प्रयोजन नहीं । बहुत उत्तम व्याख्यान देते हैं । आत्मा-परमात्मा का स्वरूप समझाते हैं । जन्म और मरण का रहस्य खोलकर बतलाते हैं । ईश्वर-उपासना पर घण्टों प्रवचन देते हैं परन्तु स्वयं किसी भी बात पर आचरण नहीं करते । वेद कहता है ऐसे लोग कर्मकाण्डियों से भी बुरी अवस्था को प्राप्त होंगे । कर्म करनेवाले कुछ करते तो हैं, इसलिए उनके कर्म का, श्रद्धापूर्वक किये हुए कर्म का अवश्य ही उत्तम परिणाम निकलेगा । भले ही उनके कर्म उनकी मोक्ष के कारण न हों परन्तु श्रेष्ठ कर्म का फल स्वयमेव ही उत्तम होता है, इसमें सन्देह नहीं है । हाँ, इसका क्या बनेगा जिसने

Adv. Vidit Chauhan Collection, Noida

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

कुछ किया ही नहीं है। कोरी गप्पों से आज तक किसी का पेट नहीं भरा। केवल सुन्दर और यथावसर प्रयुक्त किये हुए शब्दों से किसी की आत्मा को आज तक सन्तोष नहीं हुआ इसलिए ऐसे वाचक ज्ञानी तो कर्मकाण्डियों की अपेक्षा हीन अवस्था को ही प्राप्त होंगे।

यदि कोई ज्ञानशून्य कर्म कर रहा है तो समझ लो, इसके मन में कोई स्वार्थ काम कर रहा है। स्वार्थ बन्धन का कारण है, अतः केवल कर्म करनेवाला जन्म-मरण के चक्र में फँसता है परन्तु जो कर्मरहित ज्ञानी है, वह तो समय काटने और दूसरों पर अपने ज्ञान का प्रभाव डालने के लिए ज्ञान बघारता रहता है, अतः इसके कल्याण की सामग्री कहाँ ?

जब ये दोनों कर्म और ज्ञान एक-दूसरे से किसी प्रकार का सम्बन्ध न रखकर किये जाते हैं, तब इनका परिणाम भिन्न-भिन्न ही होता है—इस बात को अगला मन्त्र बताता है।

ओ३म्। अन्यदेवाहुर्विद्याया अन्यदाहुरविद्यायाः।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१३॥

शब्दार्थ—विद्यायाः विद्या से, ज्ञान से अन्यत् और एव ही फल, परिणाम **आहुः** कहते हैं और **अविद्यायाः** अविद्या से, कर्म से, तप से अन्यत् और ही परिणाम **आहुः** कहते हैं। **इति** ऐसा **धीराणाम्** उन ध्यानियों, ज्ञानियों से **शुश्रुम** सुनते हैं **ये** जो **नः** हमें **तत्** उस रहस्य को **विचचक्षिरे** विशेष रूप से बतलाते हैं।

व्याख्या—पूर्व अधिकरण में सम्भूति और असम्भूति के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है, वही यहाँ समझना चाहिए। अर्थात् न केवल कर्म पर ही भरोसा रखना चाहिए और न केवल ज्ञान के ध्यान में ही मग्न रहे अपितु दोनों पर एक साथ छा जाने का प्रयत्न करे। इस बात को अगला मन्त्र अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहता है, उसे देखिए।

ओ३म्। विद्यां च विद्यां चा यस्तद् वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥१४॥

शब्दार्थ—यः जो **विद्याम्** विद्या को, ज्ञान को **च** च और **अविद्याम्** अविद्या को, कर्म को अर्थात् **तत्** उन **उभयम्** दोनों को **सह** साथ **वेद**

Adv. Vidit Chauhan Collection, Noida

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

जानता है, जानकर तदनुसार आचरण करता है वह **अविद्यया** अविद्या, कर्म के द्वारा **मृत्युम्** मौत को, प्रमाद को **तीर्त्वा** तैर करके, पार करके **विद्यया** विद्या अर्थात् ज्ञान के द्वारा **अमृतम्** मुक्ति को **अश्नुते** प्राप्त करता है।

व्याख्या—हमने इस प्रकरण में प्रयुक्त अविद्या शब्द का अर्थ कर्म और तप किये हैं। इसमें मनुस्मृति का प्रमाण है। मनुस्मृति के बारहवें अध्याय के १०४वें श्लोक में इस वेदमन्त्र का अनुवाद है। वह श्लोक निम्न है—

तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयसकरं परम् ।
तपसा किल्बिषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते ।।

अर्थात् तप और विद्या ब्राह्मण के लिए मुक्ति के सबसे श्रेष्ठ साधन हैं। वह तप से दोषों का नाश करता है और विद्या से मुक्ति प्राप्त करता है।

मन्त्र में अविद्या है मनुस्मृति में तप है। मन्त्र में ज्ञान का जो फल बताया है वही, प्रत्युत् उन्हीं शब्दों में मनुस्मृति में भी बताया गया है। इससे स्पष्ट प्रकट है कि उपर्युक्त श्लोक इस वेदमन्त्र का ही अनुवाद है, अतः अविद्या का अनुवाद तप उचित ही है।

यही बात योगिराज पतञ्जलि महाराज ने अपने योगदर्शन के साधन पाद के ४३वें सूत्र में बताई है—

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षात्तपसः ।।

तप से अशुद्धि का नाश होता है तथा इससे शरीर और इन्द्रियों में सिद्धि अर्थात् विशेष शक्तियाँ प्रकट होती हैं।

दोष कहो, अशुद्धि कहो, एक ही बात है। कर्मों से निष्कामकर्मों से अन्तःकरण की शुद्धि के विषय में सभी एकमत हैं। तीसरे मन्त्र की व्याख्या में उल्लेख हो चुका है कि परमात्मा के नियमों और आत्मा के स्वभाव के विरुद्ध आचरण करना ही वस्तुतः मृत्यु है। तप के द्वारा मनुष्य इस मृत्यु को दूर भगा सकता है।

यह पहले बताया जा चुका है कि यह उपनिषद् अन्य समस्त

Adv. Vidit Chauhan Collection, Noida

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

उपनिषदों की आधारशिला (नींव) है। दूसरे मन्त्र में कर्म करने पर बल देकर यहाँ पुनः कर्मों का विशेष माहात्म्य वर्णन किया गया है। जो लोग यह समझते हैं कि उपनिषदों में कर्मों का खण्डन है, वे इस मन्त्र को ध्यानपूर्वक पढ़ें। यदि कहा जाए कि बारहवें मन्त्र में कर्मों की निन्दा की गई हैं, अतः उपनिषदों का सिद्धान्त वास्तव में लोगों को कर्मों से हटकर ज्ञान की ओर प्रवृत्त करना है, तो यह बात ठीक नहीं क्योंकि वहाँ तो ज्ञान की भी निन्दा है। इतना ही नहीं वहाँ तो ज्ञानियों को कर्म करनेवालों की अपेक्षा निकृष्ट अवस्था में ग्रस्त होना (फँसना) बताया है। इस मन्त्र का तात्पर्य तो जैसा वहाँ उल्लेख किया गया है ज्ञानशून्य कर्म और कर्मरहित ज्ञान की निन्दा है। उपनिषद् का स्पष्ट अर्थ यह है कि मनुष्य कर्म करे तो ज्ञानपूर्वक करे और यदि ज्ञानचर्चा करे तो कर्म के साथ अर्थात् क्रियावान् (कर्मशील) पण्डित हो। ज्ञान के बिना कर्म निकम्मा और बिना कर्म के ज्ञान व्यर्थ है। इस मन्त्र में इसी सिद्धान्त को जो बारहवें मन्त्र में है, स्पष्ट शब्दों में कहा गया है।

मनुष्य पर बहुत-से उत्तरदायित्वों का भारी भरकम बोझ है। इनसे छुटकारा इन उत्तरदायित्वों का निर्वहण (पूर्ण) करने से ही हो सकता है। जिस प्रकार ऋण से छुटकारा ऋण को चुकता करने से ही होता है। जैसे-जैसे ऋण कम होता जाता है, मनुष्य उतना ही चिन्ताओं से मुक्त होता जाता है। जब तक मनुष्य के सिर पर ऋण का बोझ रहता है, तब तक वह चिन्ताओं से दबा रहता है। संस्कृत भाषा में एक कहावत है कि चिता और चिन्ता—दोनों में से चिन्ता अधिक प्रचण्ड है, क्योंकि चिता में लाश जलती है परन्तु चिन्ता जीवित को जला देती है।[1] चिन्ता से मुक्ति मृत्यु से छुटकारा है। चिन्ता तभी तक रहती है

---

१. जिस कहावत (श्लोक) की ओर संकेत है, वह निम्न हैं—

चिन्ता चिता द्वयोर्मध्ये चिन्ता एव गरीयसी।
सजीवं दहते चिन्ता निर्जीवं दहते चिता॥

Adv. Vidit Chauhan Collection, Noida

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh
जब तक कर्तव्य पूर्ण नहीं होता। कर्तव्यों की समाप्ति के साथ चिन्ता भी समाप्त हो जाती है, अतः वेद ने उपदेश दिया कि तप के द्वारा मृत्यु से छुटकारा मिल जाता है।

निरन्तर ज्ञानपूर्वक कर्म करने से इच्छाओं में कमी होने लगती है, अन्तःकरण शुद्ध होने लगता है। प्रत्येक वस्तु की वास्तविकता सामने आने लगती है। सांसारिक वस्तुओं के प्रति राग हटने लगता है। जैसे-जैसे राग हटता जाता है, उनसे लगाव कम हो जाता है। एक समय ऐसा आता है कि ज्ञान की पूर्णता के कारण मनुष्य का लगाव भौतिक वस्तुओं से रहता ही नहीं, तब वह मुक्त हो जाता है। वह जीवनमुक्त कहलाता है। ध्यानपूर्वक देखिए, मनुष्य में इच्छाएँ जितनी ही अधिक हैं उतना ही वह पराधीन और पराश्रित है। पराधीनता या इच्छा ही मनुष्य से खोटे कर्म कराती है और उसे पाप के गड्ढे में गिराती है। जब मनुष्य को इच्छाओं की वास्तविकता का ज्ञान हो जाता है, तब उसे वैराग्य हो जाता है। सच्चे ज्ञान की चरमसीमा को वैराग्य कहते हैं। वैराग्य होते ही अपने-पराये की भावना का नाश हो जाता है। अपने-पराये की भावना के नाश से राग और द्वेष का नाश हो जाता है। राग और द्वेष ही बन्धन का कारण होते हैं अतः राग-द्वेष के नाश के साथ बन्धन से छुटकारा मिल जाता है। इसीको मुक्ति कहते हैं।

इस मुक्ति की प्राप्ति के लिए जैसा अभी कहा गया है कर्म और ज्ञान दोनों आवश्यक हैं और दोनों का साथ-साथ होना अनिवार्य है। कर्म और ज्ञान का मेल अन्धे और लँगड़े का मेल है। ज्ञान के बिना कर्म अन्धा है और कर्म के बिना ज्ञान लँगड़ा है। दोनों अपने-अपने प्रयोजन की प्राप्ति में असमर्थ हैं। अन्धे और लँगड़े को संगठित करो। लँगड़े को अन्धे पर सवार करा दो फिर देखो वो दोनों वृक्ष से फल प्राप्त करके कैसा आनन्द उठाते हैं। इसी भाव को दृष्टि के सम्मुख रखते हुए अकेले अन्धे कर्म का परिणाम अन्धकार बताया और लँगड़े ज्ञान की अवस्था उससे भी निकृष्ट बताई। परन्तु जब साधक ने इन दोनों को मिलाकर इनसे कार्य लिया तो इस संसार रूपी वृक्ष से मोक्षरूपी फल प्राप्त कर लिया।
Adv. Vidit Chauhan Collection, Noida

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

इस मन्त्र के साथ इस उपनिषद् का छठा अधिकरण समाप्त हुआ।

विशेष वक्तव्य—वेद में मन्त्रों का क्रम ऐसा है, जैसा हमने दिया है परन्तु उपनिषद् में इस क्रम में थोड़ा-सा परिवर्तन किया गया है। वेद में जो छठा अधिकरण है, वह उपनिषद् में पाँचवाँ अधिकरण है और जो वेद में पाँचवाँ अधिकरण है, वह उपनिषद् का छठा अधिकरण है। उपनिषद् बनानेवाले ने अपनी समझ में ज्ञान और कर्म पर बल देने के लिए ही इस अधिकरण को पहले कर दिया। जिस प्रकार आजकल वेद के सम्बन्ध में अपनी-अपनी समझ के अनुसार विषय के अनुकूल मन्त्रों को आगे-पीछे कर लिया करते हैं। वेद का क्रम एक विशेष प्रकार से हुआ है। यहाँ ही देखिए, आठवें मन्त्र में परमात्मा के विषय में वर्णन करके परमात्मा से भिन्न वस्तुओं की उपासना (पूजा) का फल बतलाना आवश्यक था, अतः वेद में सम्भूति और असम्भूति का वर्णन हुआ।

यह उपनिषद् वस्तुतः कण्वशाखा का अङ्ग (भाग) है, मूल वेद का नहीं। शाखा वेद के एक विशेष प्रकार के भाष्य को कहते हैं, जिसमें लम्बा-चौड़ा भाष्य नहीं होता अपितु एक-आध शब्द को परिवर्तित करके उसके स्थान पर दूसरा शब्द रख दिया जाता है। कहीं विशेष व्याख्या के लिए कुछ वाक्य भी जोड़ दिये जाते हैं। छठे मन्त्र में 'आत्मन्' शब्द आया है जिसका अर्थ वैदिक व्याकरण के अनुसार-आत्मा ने, आत्मा को, आत्मा के द्वारा, आत्मा के लिए, आत्मा से, आत्मा का, आत्मा में—हो सकते हैं। शाखाकार ने **आत्मन्** के स्थान पर **आत्मनि** कर दिया और समस्त सन्देहों को समाप्त करके बता दिया कि यहाँ 'आत्मा में' ऐसा अर्थ है। इसलिए शाखाओं और मूल वेद में बहुत कम अन्तर होता है।

□

Adv. Vidit Chauhan Collection, Noida

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

संसार की नश्वरता

ओ३म् । वायुरनिलममृतयथेदं भस्मान्त ँ शरीरम् ।
ओ३म् क्रतो स्मर क्लिबे स्मर कृत ँ स्मर ।।१५।।

शब्दार्थ—**वायुः** प्राणवायु **अमृतम्** अविनाशी **अनिलम्** वायु को (प्राप्त हो जाएगी) **अथ** और **इदम्** यह **शरीरम्** शरीर **भस्मान्तम्** राख है, जिसका परिणाम ऐसा हो जाएगा, अतः हे **क्रतो** कर्म करने-वाले जीव ! तू **ओ३म्** ओम् परमात्मा को **स्मर**, सिमर, याद कर। **क्लिबे** न्यूनताओं को **स्मर** स्मरण कर और **कृतम्** किये हुए कर्तव्य को **स्मर** याद कर ।

व्याख्या—परमेश्वर का स्वरूप और अनात्मा (प्रकृति और प्राकृतिक पदार्थों) की उपासना का परिणाम तथा कर्म और उपासना के एक साथ सेवन का फल बताकर अब वेद ने इस संसार की नश्वरता का चित्रण किया है अत्यन्त संक्षिप्त परन्तु बहुत ही प्रभावशाली शब्दों में यह चित्रण प्रस्तुत किया गया है ।

अपने अतिरिक्त अर्थात् अपने शरीर के अतिरिक्त संसार है ही क्या ? पंजाबी में एक कहावत है—"आप मरे जग प्रलय ।" अपनी मृत्यु के साथ संसार भी समाप्त है । संसार तभी तक है, जब तक हम हैं । जब हम इसमें न रहेंगे, यह रहे न रहे हमारी बला से । वैसे तो मनुष्य बहुत लम्बा-चौड़ा पसारा पसार रखता है परन्तु जीवन में अनेक बार ऐसे अवसर आते हैं, जब इसे अपनी जान या ज़हान (संसार) में से एक का चुनाव करना होता है, तब सभी सदा अपनी जान (जीवन) का ही चुनाव करते हैं, संसार को छोड़ देते हैं। इनके विचार में जान बची और लाखों पाये । मनुष्य जीवित रहेगा तो यह धन और सम्पत्ति फिर भी प्राप्त कर लेगा परन्तु यदि स्वयं ही नहीं रहा तो धन और सम्पत्ति, राजा और राष्ट्र किस काम का ? इसीलिए क्या विद्वान् और

Adv. Vidit Chauhan Collection, Noida

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh
क्या मूर्ख संसार के सभी लोग संसार की तुलना में अपने जीवन को मुख्य समझते हैं, इसे प्रिय जानते और मानते हैं। जीवन रहते मनुष्य बीसियों भलाइयाँ कर सकता है।

यह जीवन क्या है? आत्मा के साथ शरीर और प्राण का मेल और बस। आत्मा शरीर में रहता है और प्राण की जड़ भी शरीर में बँधी है। बाहर शरीर-ही-शरीर दृष्टिगोचर होता है, अतः स्थूल-दृष्टिवाले तो शरीर को ही सबकुछ समझते हैं। छान्दोग्य उपनिषद् के अन्त में इसी सिद्धान्त को दृष्टि के सन्मुख रखकर इस दृष्टिकोण को असुरों का दृष्टिकोण कहा गया। वहाँ एक कहानी कही गई है कि इन्द्र और विरोचन ब्रह्मविद्या सीखने के लिए प्रजापति के पास गये। प्रजापति ने दोनों की बौद्धिक परीक्षा लेने के लिए उन्हें कहा कि जल भरे हुए पात्र में अपने आपको देखो, यदि अपने को न समझ पाओ तो मुझे बताना, मैं तुम्हें वास्तविकता समझा दूंगा।

दोनों ने जल में अपने आपको देखा और अनुभव किया कि जैसा हम अपने शरीर को अलंकृत करें, वैसा ही वह दिखाई देता है, अतः शरीर ही आत्मा है। विरोचन इतने से ही प्रसन्न होकर चला गया। अपने देश सम्भवतः मिस्र में जाकर इस सिद्धान्त का प्रचार किया कि "खूब खाओ, खूब पियो, शरीर को अधिक-से-अधिक सुख दो। इसे अधिक-से-अधिक सुख देने से दोनों लोकों में सुख मिलता है।" उपनिषत्कार वहाँ एक वाक्य लिखता है, जिसका भाव यह है कि आज भी जो केवल लेना जानता है, श्रद्धा से रहित है, यज्ञ नहीं करता, ईश्वर की सृष्टि (मानव प्रजा) की उन्नति और समृद्धि का काम नहीं करता उसे 'असुर' कहते हैं। यह असुरों की परम्परा है कि वे मुर्दे को भी भोजन देते हैं उसे वस्त्रों और आभूषणों से सजाते हैं और समझते हैं कि यह सब सामान उसे दूसरे जन्म में भी मिल जाएगा।

सूक्ष्मदृष्टि से क्या यदि स्थूलदृष्टि से भी देखा जाए तो जो अपने आपको आस्तिक देव कहते हैं, उनका सिद्धान्त भी असुरों से मिलता-जुलता है। हम आस्तिक भी सारा दिन अपने शरीर के पालन-पोषण
Adv. Vidit Chauhan Collection, Noida

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

में ही लगे रहते हैं। यदि रात्रि में विश्राम करते हैं, सोते हैं तो शरीर को सुख पहुँचाने के लिए। यदि दिन में मजदूरी, नौकरी, दुकानदारी आदि करते हैं तो शरीर के लिए, स्नान करते हैं तो शरीर के लिए। इस प्रकार विचार करने से पता चलता है कि हमारे चौबीसों घण्टे शरीर की पूजा और आराधना में लगते हैं। संसारी लोगों को यदि गर्व होता है तो भी शरीर और शरीर की आवश्यकताओं को पूरा करनेवाले सामान पर। यदि किसी को धन-सम्पत्ति का अभिमान है तो यह भी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए, किसी को अपने सौन्दर्य पर गर्व है तो सौन्दर्य भी शरीर का है, किसी को अपनी शक्ति का अहंकार है, तो यह भी शारीरिक है, तात्पर्य यह कि हम शरीर को ही सबकुछ समझकर संसार का व्यापार चला रहे हैं। वेद भगवान् का उपदेश है कि शारीरिक जीवन शरीर और श्वास पर निर्भर है। श्वास तो हवा है। वह अपने मूल कारण परमाणुरूप हवा में मिल जाएगा। शरीर मृण्मय (मिट्टी) है, मिट्टी में मिल जाएगा। इसको जला दिया जाएगा, यह मुट्ठी भर राख में परिवर्तित हो जाएगा। तुझे अभिमान किस बात का है? चाहे शरीर को जलाया जाए, गाड़ा जाए, बहाया जाए, वन में या मीनार पर फेंक दिया जाए परिणाम एक ही है।

ऐ मानव! यदि तू शाश्वत आनन्द चाहता है, मन की शान्ति का इच्छुक है तो ओ३म् को, परमात्मा को स्मरण कर। तू अभिमान करता है अपनी शक्ति का, परन्तु तेरी शक्ति है क्या? तू मरना नहीं चाहता परन्तु मौत के पञ्जे में फँसा हुआ है। तेरा धन, तेरी सम्पत्ति, तेरा देश, तेरा शासन कोई भी तो तुझे इस मृत्यु के फंदे से छुड़ा नहीं पाते। पुत्र, भाई-बन्धु, माता-पिता सभी विवशता की मूर्ति बने तुझ निःसहाय और निराश्रय को देख रहे हैं। बतला कहाँ गई तेरी शक्ति? कहाँ गई तेरी धन-सम्पत्ति? अब तुझे अपनी निर्बलता का आभास हो रहा है। अब तुझे पता लग रहा है कि तेरी शक्ति नाम-मात्र की थी। सांसारिक धन-सम्पत्ति और बन्धु-बान्धव, सम्बन्धी तो थे ही तुझसे अलग। वे अब तेरे किसी काम नहीं आते। अतः अब

Adv. Vidit Chauhan Collection, Noida

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh
अपनी विवशता, दुर्बलता, कमजोरी को स्मरण कर, साथ ही स्मरण कर अपने कर्मों को। तेरे कर्म ही तेरे साथी हैं। धन-सम्पत्ति, राज्य, कोश और प्रजा, माता-पिता, पत्नी, पुत्र, पति—सब यहाँ-के-यहीं रह जाएँगे। कोई तेरे साथ जाएगा तो तेरे कर्म, क्योंकि उनकी प्रबल छाप (प्रबल संस्कार) तुझपर पड़ चुकी है। वेद शरीर की निर्बलता और दुर्बलता दिखलाकर उपदेश कर रहा है कि ऐ मानव ! मृत्यु को सदा अपने समक्ष रख। परमेश्वर का स्मरण कर। अपनी निर्बलता को मत भूल और सदा साथ देनेवाले कर्म का भी ध्यान करना। इस यात्रा में यही तेरा साथी है, देख ले कि यह अच्छा है या बुरा, पुण्य है या पाप ? तू इस संसार से विदा हो, इससे पूर्व ही अपने साथी का खूब सोच-समझकर चुनाव कर। खरमस्ती में आकर, शारीरिक शक्ति के अभिमान में आकर ऐसा साथी मत चुन लेना जो परलोक में तेरे लिए बोझ बन जाए। यदि तू ध्यानपूर्वक संसार का निरीक्षण करे तो तुझे पद-पद पर निर्बलता का प्रमाण मिलेगा। अपनी इस निर्बलता और दीनता को सोचकर सम्पूर्ण शक्तियों के भण्डार परमेश्वर का स्मरण कर। उसके स्मरण से तुझे खोटे कर्मों से छुटकारा मिलेगा।

यहाँ वेद में **'ओ३म् स्मर'** कहा है, 'रामं स्मर, कृष्णं स्मर' आदि कुछ नहीं। इसका एक विशेष कारण है। यदि परमात्मा को स्मरण करना है तो **'ओ३म्'** नाम के द्वारा उसकी उपासना करो। इसमें कोई सन्देह नहीं कि परमात्मा के अनन्त नाम हैं। परन्तु ये नाम परमात्मा के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं के भी हैं। 'ओ३म्'—यह एक ऐसा नाम है जो परमात्मा के अतिरिक्त और किसी का नहीं है, इस एक नाम में परमात्मा के अनेक गुण आ जाते हैं। इसके लिए 'सत्यार्थप्रकाश' का प्रथम समुल्लास देखना चाहिए। 'ओ३म्' नाम में एक और गुण है जो और किसी नाम में नहीं। गूँगा गॉड (God) नहीं बोल सकता, खुदा उसके मुख से नहीं निकल सकता। राम, रहीम, कृष्ण, अल्ला—किसी भी शब्द को वह बोल नहीं सकता परन्तु 'ओम्' को वह भी बिना किसी कष्ट के, अत्यन्त सरलता से बोल सकता है, अतः वेद का उपदेश है कि
Adv. Vidit Chauhan Collection, Noida

 Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

'ओ३म् स्मर' ओम् का स्मरण कर।

एक बात की और सावधानी कर लेनी चाहिए कि केवल नाम रटने से कोई लाभ नहीं। जैसे भूख लगने पर रोटी-रोटी कहने से भूख नहीं मिट सकती, वैसे ही 'ओम्-ओम्' रटने से कोई विशेष लाभ नहीं, प्रत्युत् वेद के अनुसार 'ओम्' के गुणों को धारण करना और उसकी आज्ञा के अनुसार चलना ही 'ओम्' का स्मरण करना है। यजुर्वेद के दूसरे अध्याय के तेरहवें मन्त्र में लिखा है—**'ओ३म् प्रतिष्ठ'**—ओम् में निवास कर अर्थात् परमात्मा में अपनी स्थिति बनाओ। अपने भीतर ऐसी स्थिति उत्पन्न करो कि उठते-बैठते, प्रत्येक कार्य करते हुए तुम्हें ऐसा अनुभव हो कि तुम परमात्मा के सहारे जी रहे हो, तब तुम्हारा परमात्मा का स्मरण करना लाभदायक होगा।

ओ३म् का एक अर्थ है 'रक्षक'। यदि परमेश्वर के इस गुण पर आपको विश्वास है तो आप भी निर्बलों की रक्षा करोगे। यदि परमात्मा को आप न्यायकारी मानते हैं तो आप भी कभी अन्याय नहीं करोगे। सारांश यह कि स्मरण का अर्थ है परमात्मा के गुणों को अपने भीतर धारण करना। इसीलिए योगदर्शन में लिखा है—

तज्जपस्तदर्थभावनम्। —यो० १-२८

ओम् के जाप का अर्थ है, इसके गुणों की भावना करना। जब मनुष्य लगातार (निरन्तर) इस प्रकार ओम् का जाप करेगा तब उसे अपने स्वरूप का वास्तविक ज्ञान प्राप्त हो जाएगा और उसके मार्ग में जितनी रुकावटें हैं, वे सब दूर हो जाएँगी।

उपनिषद् में इस मन्त्र का दूसरा भाग इस प्रकार है—

ओ३म् क्रतो स्मर कृतं स्मर क्रतो स्मर कृतं स्मर।

इसमें क्रतो स्मर और कृतं स्मर की आवृत्ति की गई है और 'क्लिबे स्मर' छोड़ दिया गया है। उपनिषत्कार ने इसको मृत्यु के समय मनुष्य के मन में जो भाव उठते हैं, उनकी ओर लगाया है। उसके विचार में निर्बलता और विवशता तो उसके सामने खड़ी ही है। अब भी यदि उससे हो सके तो वह परमात्मा का स्मरण करे और अपने कर्मों का

Adv. Vidit Chauhan Collection, Noida

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

स्मरण करके परमात्मा को याद करे। उपनिषत्कार बतलाना चाहता है कि मनुष्य 'ऋतु' कर्म करनेवाला है। ऋतु का अर्थ यज्ञ भी होता है। वैदिकभाषा में समस्त शुभकर्मों को यज्ञ कहते हैं। वेद और उपनिषदों में कई स्थानों पर मानवजीवन को यज्ञ कहा गया है। ऐ मानव ! तूने अपने स्वरूप को नहीं पहचाना ? तू ऋतु नहीं बना। अब तेरे किये कर्म सामने आ रहे हैं। कर्म पर बल देने के लिए ही यह परिवर्तन किया गया है। भाव में कोई अन्तर नहीं आया। हाँ, यह बात स्पष्ट है कि वेदमन्त्र में निर्बलता का स्मरण कराने पर अधिक बल दिया गया है।

जीवात्मा को 'ऋतु' कहने का विशेष प्रयोजन है। ऋतु का एक अर्थ कर्म करनेवाला है। वैदिक परिभाषा में कर्म का अर्थ श्रेष्ठकर्म होता है—यह हम पहले बतला चुके हैं, अतः वेद जीव को स्मरण कराता है। ऐ श्रेष्ठ कर्मशील ! तू ओ३म् का स्मरण कर। मृत्यु के समय तो बुरे कर्म करनेवाले को अपनी बुरी करतूतें स्मरण आ रही हैं उसको कहाँ अवकाश है कि वह 'ओम्' का स्मरण करे। दूसरा संकेत अधिक सूक्ष्म है। इसमें कुछ उपालम्भ (कटाक्ष)—सा है। अरे ! तू तो ऋतु था। तुझे प्रभु ने यह शरीर यज्ञ=श्रेष्ठकर्म करने के लिए दिया था। वेद में कहा है—**इयं ते यज्ञया तनूः।** (यजु० ४।१३) तेरा यह शरीर यज्ञ करने के लिए है, तूने इससे क्या कर डाला। अब इसका फल भोग। अब स्मरण कर तूने क्या-क्या काम किये ? कर्म का फल तो भोगना ही पड़ता है, इससे बचने का तो कोई उपाय ही नहीं है।

जब मनुष्य को अपनी विवशता, निर्बलता और अशक्ति का ज्ञान हो गया, यह भी विश्वास हो गया कि परमात्मा के अतिरिक्त और कोई सहारा नहीं जिसकी सहायता से छुटकारा मिल सके तो फिर परमात्मा की शरण में जाना पड़ता है। इसे आत्मविद्या में आत्मसमर्पण कहते हैं। वह किस प्रकार और किन शब्दों में करना चाहिए, इसके लिए भगवान् ने स्वयं ही अगले मन्त्र में उपदेश दिया है।

Adv. Vidit Chauhan Collection, Noida

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

प्रार्थनापूर्वक आत्मसमर्पण

ओ३म् । अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नम उक्ति विधेम ।।१६।।

शब्दार्थ—हे **अग्ने** प्रकाशस्वरूप प्रभो ! **अस्मान्** हमें **राये** ऐश्वर्य और मोक्ष के लिए **सुपथा** श्रेष्ठ मार्ग से **नय** ले चल। हे **देव** संसार के स्वामिन् ! तू हमारे **विश्वानि** सम्पूर्ण **वयुनानि** विचारों और आचारों को **विद्वान्** जानता है, अतः **अस्मत्** हमसे **जुहुराणम्** कुटिलता को, टेढ़ी चालोंवाले **एनः** पाप को, बुरे कर्मों को **युयोधि** पृथक् कर, दूर कर। हम **ते** तुझे **भूयिष्ठाम्** बहुत बड़ी **नमः+उक्तिम्** नमस्कार उक्ति **विधेम** अर्पित करते हैं।

व्याख्या—जब मनुष्य को अपनी विवशता का ज्ञान हो जाता है तब वह अपने सहारे के लिए किसी शक्तिशाली की खोज करता है। जीव को अपनी अयोग्यता, अज्ञानता और अशक्ति का प्रबल भान हुआ। उसने संसार की सब वस्तुओं को भी देख लिया कि अन्तिम समय कोई भी वस्तु उसका साथ नहीं दे सकती। इस आपत्तिकाल में कोई भी उसकी सहायता नहीं कर सकता। प्रथम तो कोई उसकी सहायता करना चाहता ही नहीं और मान लो कि यदि कोई सहायता करने के लिए तैयार भी हो जाए तो उसका यह तैयार होना निरर्थक और व्यर्थ है। मौत के पञ्जे से कौन छुटकारा दिला सकता है? इस विवशता और निराश्रयता की अवस्था में उसे एक नई सूझ हुई है। वह यह कि उससे जितने भी पाप हुए हैं, जितनी भी भूलें और अपराध इसने किये, उन सबका कारण इसकी विवशता और अज्ञान था। इस अनुभूति के होते ही उसके भीतर एक प्रबल भावना उत्पन्न होती है कि वह कोई ऐसा साथी ढूंढ़े जो इसे कभी भी न छोड़े। अन्त में उसे सर्वशक्तिमान् परमात्मा का सहारा मिलता है और वह भगवान् से कहता है—प्रभो !

Adv. Vidit Chauhan Collection, Noida

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh
मैं तो नहीं चलता। मैं अज्ञानी हूँ क्या पता मैं उलटे मार्ग पर ही चल पड़ूँ और ठोकर खाऊँ और तेरी दृष्टि में कोप का भाजन बन जाऊँ। इसलिए हे प्रकाशकों के प्रकाशक! हे सबको ज्योति से प्रदीप्त करनेवाले! हे सबको सुप्रेरणा देनेवाले! तू ही मुझे ले चल। तू जिस मार्ग से ले चलेगा वह निःसन्देह शुभ होगा, वह सरल और सीधा मार्ग होगा। तेरे प्यारे, तेरे भक्त इसी मार्ग पर चलते हैं। सारे संसार के स्वामिन्! विश्वगुरो! ले चल, इसी मार्ग से ले चल। मैं संसार से तंग आ गया हूँ। दिन-रात प्रकृति और प्राकृतिक शक्तियों के साथ युद्ध करते-करते अब थक गया हूँ। मैं अब इससे छुटकारा चाहता हूँ, मोक्ष चाहता हूँ। हे मोक्षप्रदातः! सच्चे प्रभो! मुझे मोक्ष प्रदान कर। मुझे मोक्ष मार्ग पर चला, मुझे मुक्तों का मार्ग दिखा।

प्रभो! तू मुझसे पाथेय (मार्ग में खाने-पीने की सामग्री) पूछता है। तू जानना चाहता है कि मैं यात्रा के लिए कौन-सा तोशः (पाथेय) लाया हूँ। प्रभो! मुझसे क्यों पूछते हो? तुम मेरे अन्दर-बाहर सभी को जानते हो। तुमसे क्या छिपा है। यह तो है कि मुझसे मेरा बहुत कुछ छिपा है परन्तु तुझसे तो कुछ भी नहीं छिपा। तुझपर सभी कुछ प्रकट है, अतः ऐ दयालो! तू ही बता कि मेरा अपराध क्या है? मुझे तो अपने दोष दृष्टि में नहीं आते। मैं तो अपनी अच्छाइयों, पुण्यों, शुभकर्मों को गिनता रहता हूँ। प्रभो! क्या कहते हो? ये मेरी कुटिलता है, चालाकी है, टेढ़ापन है, तो इसे दूर कर, परे हटा। इस दोष को मुझसे दूर हटा। मुझे पवित्र बना। सब पापों में कुटिलता रहती है। ठीक है स्वामिन्! ठीक है। तू इसे दूर हटा। मैं निर्बल हूँ? प्रभो ठीक है। तूने हर समय मुझे प्रेरणा दी, सन्मार्ग दिखाया। जब-जब मैं पाप करने लगा, प्रभो! मेरी बुद्धि पर पर्दा पड़ा था। तेरी प्रेरणा, तेरी वार्निंग (Warning), तेरा सन्देश सुना-अनसुना कर दिया। इसका परिणाम भोगने के लिए तैयार हूँ। जैसे भी हो मुझमें पवित्रता आये, पापों से दूर रहूँ। परन्तु पापों से भी तुम ही बचाओगे, अतः दयालो! कृपालो! बचाओ, बचाओ, पाप से बचाओ, दोषों से

Adv. Vidit Chauhan Collection, Noida

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

छुड़ाओ, अपराधों के मार्ग से हटाओ। मैं झुक-झुककर तुझे प्रणाम करता हूँ। प्रभो! सदा ऐसा करता रहूँ।

इस प्रकार जीव ने अपने बचाव (सुरक्षा) के लिए अपने आपको परमात्मा को अर्पित कर दिया है। इसे आत्मसमर्पण कहते हैं। यह कार्य है बहुत कठिन। स्वयं को मिटाये बिना, आत्मविस्मृति के निरन्तर अभ्यास के बिना आत्मसमर्पण असम्भव है, अतः साधक को चाहिए कि वह सदा परमात्मा की स्तुति, प्रार्थना करता रहे, इसमें कभी ढील न आने दे। विचारपूर्वक स्तुति-प्रार्थना करते हुए उसमें आत्मसमर्पण का भाव प्रकट हो जाएगा। इसके पश्चात् जो अनुभूति होगी, उसका वर्णन अगले मन्त्र में है।

क़ुरान (क़ुर्आन) शरीफ़ की 'सूरते फ़ातिहः' में इस मन्त्र की व्याख्या है। देखिए, क़ुर्आन शरीफ़ की वह सूरत निम्न प्रकार है—

अल्हम्दु लिल्लाहि रब्बिल आलमीन० अर्रहमानिर्रहीम० मालिकि यौमिद्दीन०इय्या क न बुदु व इय्या क नस्तईन० इहदिनस्सिरातल मुस्तकीम० सिरातल्लीज न अन अम त अलै हिम०ग़ौरिल मग़ज़ूबि अलैहिम वलज्ज़ालीन०

इसमें सात आयतें हैं। इनका अनुवाद इस प्रकार है—

सारी प्रशंसाएँ परमेश्वर के लिए हैं, जो सारे ब्रह्माण्डों का पालक है। वह अत्यन्त दयालु, और कृपाशील है। न्याय के दिन का स्वामी है। हम तेरी ही पूजा करते और तुझसे ही सहायता माँगते हैं। हे प्रभो! हमें सीधे मार्ग पर चला। उन श्रेष्ठ लोगों के मार्ग पर जिन-पर तू अपनी कृपा करता रहा, न कि उनके मार्ग पर जिनपर तेरा कोप हुआ और न उनके मार्ग पर जो सीधे मार्ग से भटके हुए हैं।

मनन करें तो यह इस मन्त्र की व्याख्या है। मन्त्र में कहा है—

ओ३म् अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्।

ऐ प्रकाशकों के प्रकाशक! हमें मोक्ष-प्राप्ति के लिए सीधे मार्ग से ले चल।

Adv. Vidit Chauhan Collection, Noida

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

इहदिनस्सिरातल मुस्तक़ीम सिरातल्लज़ी न अन अमत अलै हिम ग़ैरिल मग़ज़ूबि अलैहिम वलज्ज़ाल्लीन।

हे प्रभो ! हमें सीधे मार्ग पर चला। उन श्रेष्ठ लोगों के मार्ग पर, जिनपर तू अपनी कृपा करता रहा, न कि उनके मार्ग पर जिनपर तेरा कोप हुआ और न उनके मार्ग पर जो सीधे मार्ग से भटके हुए हैं।

"उन श्रेष्ठ लोगों……भटके हुए हैं" यह सारा वाक्य सीधे मार्ग की व्याख्या है। मानो ये तीन आयतें वेदमन्त्र के प्रथम चरण का भाष्य हैं।

मन्त्र में कहा है—

विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।

हे सारे संसार के स्वामिन् ! तू हमारे सम्पूर्ण विचारों और आचारों को जानता है।

मालिकी यौमिद्दीन—वह न्याय के दिन का स्वामी है। न्याय के दिन का स्वामी परमेश्वर तभी बन सकता है जब वह हमारे विचारों और आचारों को जानता हो।

वेद में कहा है—

युयोध्यस्मज्जहुराणमेनः—हमसे टेढ़ी चालवाले पाप को दूर कर।

कुरान में कहा है—

ग़ैरिल मग़ज़ूबि अलैहिम वलज्ज़ालीन—न उनके मार्ग पर जिनपर तेरा कोप हुआ और न उनके मार्ग पर जो सीधे मार्ग से भटके हुए हैं।

वेद में कुटिलता छुड़ाने की प्रार्थना है और कुर्आन में कुमार्ग से बचनें की इच्छा है।

वेद में आया है—**भूयिष्ठान्ते नमउक्ति विधेम**—तुझे बहुत-बहुत नमस्कार वचन कहते हैं।

कुर्आन में इसके लिए आया है—**अल्हम्दु लिल्लाहि रब्बिल आलमीन और इय्या क न बुदु व इय्या क नस्तईन।** सारी प्रशंसाएँ परमेश्वर के लिए ही हैं और हम तेरी पूजा करते हैं और तुझी से सहायता माँगते हैं। इन दोनों में कोई भेद नहीं।

Adv. Vidit Chauhan Collection, Noida

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

वेद में यहाँ परमेश्वर को 'अग्ने' कहा है जिसका अर्थ होता है प्रकाशकों का प्रकाशक, मार्ग दिखानेवाला, आगे ले चलनेवाला, क्योंकि परमात्मा से श्रेष्ठ मार्ग पर चलाने की प्रार्थना की गई है, अतः यहाँ उसे 'अग्नि' नाम से स्मरण करना अत्यन्त उचित है। परमेश्वर का दूसरा नाम यहाँ देव है। देव का अर्थ है सर्वज्ञ। दिलों का हाल जाननेवाला सर्वज्ञ ही होता है, अतः ऐसे अवसर पर परमेश्वर का सर्वज्ञ नाम से स्मरण करना अति उचित और अवसर-अनुकूल है। कुर्आन में परमेश्वर को रहमान और रहीम (दयालु और कृपाशील) कहकर मानो उससे दया और कृपा की प्रार्थना की है।

इस प्रकार मनन करें तो कुर्आन की यह सूरते फातिहः (भूमिका) यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय के इस सोलहवें मन्त्र की व्याख्या है। और सारा संसार यह जानता और मानता है कि ऐतिहासिक दृष्टिकोण से वेद संसार का प्राचीनतम धर्मग्रन्थ है। इस्लामवाले भी यह स्वीकार करते हैं कि वेद भी ईश्वरीय ज्ञान है। तो क्यों न इस सर्वप्राचीन, प्रत्येक प्रकार के परिवर्तन और परिवर्धन से मुक्त, अध्यात्म का ठीक-ठीक ज्ञान देनेवाले धर्मग्रन्थ वेद को स्वीकार करें।

आत्मसमर्पण न केवल आध्यात्मिक जीवन में आवश्यक है अपितु सांसारिक व्यापार में भी इसकी अत्यन्त आवश्यकता होती है। सांसारिक कार्य करते हुए यदि उसमें पूर्ण तन्मयता और हार्दिक लग्न से काम न लिया जाए तो उसमें सफलता मिलना कठिन हो जाता है। इसी प्रकार अध्यात्म में जबतक अपना भान रहता है (आत्मविस्मृति नहीं होती) तबतक परमात्मा की ओर ध्यान जा ही नहीं सकता। ध्यान मन के द्वारा किया जाता है और मन एक समय में केवल एक ही बात का ध्यान कर सकता है। जब मन खुदी (अहंकार, बस मैं ही हूँ) के या संसार के विचारों में डूबा रहता है तब वह परमेश्वर का ध्यान कैसे कर सकता है? इस सिद्धान्त को दृष्टि में रखकर वेद ने आत्मसमर्पण का सदुपदेश दिया है।

Adv. Vidit Chauhan Collection, Noida

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

आत्मसमर्पण का फल-ब्रह्मसाक्षात्कार

ओ३म् । हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम् । ओ३म् खं ब्रह्म ॥१७॥

शब्दार्थ—**हिरण्मयेन** चमकदार **पात्रेण** पात्र से, ढकने से, **सत्यस्य** सत्य का **मुखम्** मुख **अपिहितम्** ढका हुआ है। **यः** जो **असौ** यह **आदित्ये** प्रकृति के पुत्र संसार में **पुरुषः** पूर्ण पुरुष परमात्मा है। **सः** वह **अहम्** मुझमें है और **सः** उस **असौ** परमात्मा में **अहम्** मैं हूँ । उस परमात्मा का नाम **ओ३म्** ओम् है । वह **खम्** आकाश की भाँति सर्वव्यापक, सर्वत्र विद्यमान **ब्रह्म** सबसे बड़ा है, श्रेष्ठ है ।

व्याख्या—साधक अनुभव करता है कि परमात्मा का तेज इतना है कि सारा संसार प्रत्युत् इस संसार का सूक्ष्मकारण प्रकृति और जीव इस प्रकाश के भण्डार, इस तेजोमय प्रभु से ढके हुए हैं, भगवान् का तेज इनपर छा रहा है । जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश के समक्ष चन्द्रमा, तारे, सितारे सभी मन्द पड़ जाते हैं, सूर्य के समक्ष दिखाई नहीं देते। इसी प्रकार जब साधक के आत्मा से सब प्रकार के दोष दूर हो जाते हैं, अहंकार का पर्दा हट जाता है तब इसके आत्मा में परमात्मा के तेज का प्रकाश इस प्रकार होता है। मानो सूर्य मध्याह्न में आ गया हो । फिर साधक उस तेज को ही देखता है । ब्रह्मतेज प्रकृति को उसकी दृष्टि से ओझलकर देता है । इतना ही नहीं, जब वह इस तेज, शान्ति देनेवाले प्रकाश से प्रफुल्लित और आनन्दित होने लगता है तब वह अनुभव करता है कि जो परमात्मा मेरे भीतर समाया हुआ है, मेरे बाहर भी है अर्थात् भगवान् मेरे भीतर-बाहर व्यापक है ।

आरम्भ में **ईशावस्यमिदम्** कहा था, अन्त में **योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्**—कहकर उसका समर्थन कर दिया। आरम्भ में मृत्यु के प्रभुत्व के कारण उसको व्यापक के रूप में देखा था। अन्त में साधना के

Arya Muni Chauhan Collection, Noida

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

वेद में यहाँ परमेश्वर को 'अग्ने' कहा है जिसका अर्थ होता है प्रकाशकों का प्रकाशक, मार्ग दिखानेवाला, आगे ले चलनेवाला, क्योंकि परमात्मा से श्रेष्ठ मार्ग पर चलाने की प्रार्थना की गई है, अतः यहाँ उसे 'अग्नि' नाम से स्मरण करना अत्यन्त उचित है। परमेश्वर का दूसरा नाम यहाँ देव है। देव का अर्थ है सर्वज्ञ। दिलों का हाल जाननेवाला सर्वज्ञ ही होता है, अतः ऐसे अवसर पर परमेश्वर का सर्वज्ञ नाम से स्मरण करना अति उचित और अवसर-अनुकूल है। कुर्आन में परमेश्वर को रहमान और रहीम (दयालु और कृपाशील) कहकर मानो उससे दया और कृपा की प्रार्थना की है।

इस प्रकार मनन करें तो कुर्आन की यह सूरते फातिहः (भूमिका) यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय के इस सोलहवें मन्त्र की व्याख्या है। और सारा संसार यह जानता और मानता है कि ऐतिहासिक दृष्टिकोण से वेद संसार का प्राचीनतम धर्मग्रन्थ है। इस्लामवाले भी यह स्वीकार करते हैं कि वेद भी ईश्वरीय ज्ञान है। तो क्यों न इस सर्वप्राचीन, प्रत्येक प्रकार के परिवर्तन और परिवर्धन से मुक्त, अध्यात्म का ठीक-ठीक ज्ञान देनेवाले धर्मग्रन्थ वेद को स्वीकार करें।

आत्मसमर्पण न केवल आध्यात्मिक जीवन में आवश्यक है अपितु सांसारिक व्यापार में भी इसकी अत्यन्त आवश्यकता होती है। सांसारिक कार्य करते हुए यदि उसमें पूर्ण तन्मयता और हार्दिक लग्न से काम न लिया जाए तो उसमें सफलता मिलना कठिन हो जाता है। इसी प्रकार अध्यात्म में जबतक अपना भान रहता है (आत्मविस्मृति नहीं होती) तबतक परमात्मा की ओर ध्यान जा ही नहीं सकता। ध्यान मन के द्वारा किया जाता है और मन एक समय में केवल एक ही बात का ध्यान कर सकता है। जब मन खुदी (अहंकार, बस मैं ही हूँ) के या संसार के विचारों में डूबा रहता है तब वह परमेश्वर का ध्यान कैसे कर सकता है? इस सिद्धान्त को दृष्टि में रखकर वेद ने आत्मसमर्पण का सदुपदेश दिया है।

Adv. Vidit Chauhan Collection, Noida

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

आत्मसमर्पण का फल-ब्रह्मसाक्षात्कार

ओ३म् । हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम् । ओ३म् खं ब्रह्म ॥१७॥

शब्दार्थ—**हिरण्मयेन** चमकदार **पात्रेण** पात्र से, ढकने से, **सत्यस्य** सत्य का **मुखम्** मुख **अपिहितम्** ढका हुआ है। **यः** जो **असौ** यह **आदित्ये** प्रकृति के पुत्र संसार में **पुरुषः** पूर्ण पुरुष परमात्मा है। **सः** वह **अहम्** मुझमें है और **सः** उस **असौ** परमात्मा में **अहम्** मैं हूँ। उस परमात्मा का नाम **ओ३म्** ओम् है। वह **खम्** आकाश की भाँति सर्वव्यापक, सर्वत्र विद्यमान **ब्रह्म** सबसे बड़ा है, श्रेष्ठ है।

व्याख्या—साधक अनुभव करता है कि परमात्मा का तेज इतना है कि सारा संसार प्रत्युत् इस संसार का सूक्ष्मकारण प्रकृति और जीव इस प्रकाश के भण्डार, इस तेजोमय प्रभु से ढके हुए हैं, भगवान् का तेज इनपर छा रहा है। जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश के समक्ष चन्द्रमा, तारे, सितारे सभी मन्द पड़ जाते हैं, सूर्य के समक्ष दिखाई नहीं देते। इसी प्रकार जब साधक के आत्मा से सब प्रकार के दोष दूर हो जाते हैं, अहंकार का पर्दा हट जाता है तब इसके आत्मा में परमात्मा के तेज का प्रकाश इस प्रकार होता है। मानो सूर्य मध्याह्न में आ गया हो। फिर साधक उस तेज को ही देखता है। ब्रह्मतेज प्रकृति को उसकी दृष्टि से ओझलकर देता है। इतना ही नहीं, जब वह इस तेज, शान्ति देनेवाले प्रकाश से प्रफुल्लित और आनन्दित होने लगता है तब वह अनुभव करता है कि जो परमात्मा मेरे भीतर समाया हुआ है, मेरे बाहर भी है अर्थात् भगवान् मेरे भीतर-बाहर व्यापक है।

आरम्भ में **ईशावस्यमिदम्** कहा था, अन्त में **योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्**—कहकर उसका समर्थन कर दिया। आरम्भ में मृत्यु के प्रभुत्व के कारण उसको शासक के रूप में देखा था। अन्त में साधना के

Adv. Vidit Chauhan Collection, Noida

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

बल से उसे अपने भीतर रमा हुआ अनुभव करके उसे अपना आप मानने लगा और मस्त होकर कहता है—वह संसार में व्यापक, वह मेरे अन्दर-बाहर रम रहा है भगवान् ओ३म् है। वह सर्वत्रव्यापक है, वह सबसे बड़ा है।

कई लोगों को इस मन्त्र से अद्वैतवाद की बू आती है। यह उनकी भूल है। यदि इस मन्त्र में अद्वैतवाद का उपदेश होता तो मन्त्र का अन्तिम खण्ड इस प्रकार होता—'अहं खम्ब्रह्म'—मैं आकाश की भाँति व्यापक और ब्रह्म हूँ। परन्तु वेद में 'ओ३म् खम्ब्रह्म' है, अतः मन्त्र में अद्वैतवाद खोजना सरासर भूल है। विस्तार से हमने इसपर 'आत्म-उपनिषद्' के भाषाभाष्य में लिखा है।

उपनिषद् में इस मन्त्र का नम्बर पन्द्रहवाँ है तथा वहाँ इसके दूसरे खण्ड का पाठ भी और प्रकार का है तथा इसके साथ एक और श्लोक भाष्य के रूप में बढ़ाया गया है। सारा पाठ निम्न प्रकार है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥
पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह।
तेजो यत्ते कल्याणतमं रूपं तत्ते पश्यामि
योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि॥

चमकीले ढकने से सचाई का मुख ढका हुआ है। हे पुष्टि देनेवाले परमेश्वर! तू उसे सत्यधर्म (वास्तविकता) के दर्शन के लिए नंगा कर दे, हटा दे। हे सबके पालक प्रभो! हे एकमात्र सर्वज्ञ! हे सबको वश में रखनेवाले! हे चराचर (चेतन और जड़) के आत्मा! हे मन के स्वामिन्! किरणों को खेंच ले, तेज को इकट्ठा कर दे। तेरा जो सबसे अधिक सुखदायी स्वरूप है, उसे मैं भी देखूँ। जो यह पुरुष है, वह मुझमें है और मैं उसमें हूँ।

उपनिषत्कार ने सम्भूति और असम्भूति, भौतिक पदार्थ और उनका कारण प्रकृति की उपासना के फलों का वर्णन करके यह बतलाना चाहा है कि परमात्मा यद्यपि सर्वत्र विद्यमान है परन्तु इस प्रकृति की चमक-

Adv. Vidit Chauhan Collection, Noida

Digitized by Agamnigam Foundation Chandigarh

दमक से जीव की ज्ञानचक्षु चकाचौंध हो जाती है और वह उसे देख नहीं पाता। वह अपने आपको निर्बल और अशक्त पाता है, अतः बलदाता, पुष्टिदाता प्रभु से प्रार्थना करता है कि मैं तेरा दर्शन चाहता हूँ। तू इस चटकीले, भड़कीले प्राकृतिक पर्दे को हटा और मुझे अपना रूप दिखा, मुझे सचाई के दर्शन करा।

उपनिषत्कार ने अपनी ओर से जो एक श्लोक बढ़ाया है उसमें भगवान् से प्रार्थना है। इसमें भगवान् बहुत ही सुन्दर नामों से स्मरण किया गया है। इस श्लोक में उसे **पूषन्**—बलदाता कहा गया है। इसे एकमात्र सर्वज्ञ कहा गया है। हम जीव कुछ-कुछ जानते हैं परन्तु सब कुछ तो केवल परमात्मा ही जानता है। हम ऋषि बन सकते हैं परन्तु एक ऋषि, अद्वितीय ऋषि, वास्तविक ऋषि तो वही है। उसने सारे संसार को व्यवस्था में बाँध रखा है, अतः उसे यम कहा गया है। क्योंकि वह सर्वज्ञ है, अतः सारी सृष्टि का प्रबन्ध भी वही कर सकता है। इसके साथ ही वह चराचर का आत्मा (सूर्य) है, अतः वह प्राजापत्य, मनों का स्वामी, मनों का हाल जाननेवाला अन्तर्यामी है। वही इस प्रकृति की चमक-दमक से बचा सकता है, इसलिए उससे प्रार्थना की गई है। मैं इस प्रकृति के रूप से परे—तेरा जो कल्याणकारी रूप है, उसे देखना चाहता हूँ, उसे दिखला। जब प्रकृति से परे उसके रूप को देखता है तो कह उठता है—वह मुझमें है, मैं उसमें।

कई लोगों को यहाँ भी नवीन-वेदान्त दिखाई दिया है परन्तु यह उनकी विवेकशून्यता है। यदि वहाँ नवीन वेदान्त का सिद्धान्त होता तो यह श्लोक जो उपनिषत्कार ने अपनी ओर से बढ़ाया है, कदापि नहीं होता, क्योंकि इसमें परमेश्वर से प्रार्थना की गई है। जिससे प्रार्थना की जाती है और जो प्रार्थना करता है, उन दोनों का अस्तित्व पृथक्-पृथक् होता है। उपनिषत्कार ने तो एक और कमाल किया है। 'अग्ने नये' प्रार्थना-मन्त्र को सबसे अन्त में रखकर इस बात पर बल दिया है कि यह प्रार्थना किया करो। जब स्वयं परमात्मा होने का विश्वास हो

CC-0. Prof. Vinod Chauhan Collection, Noida

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

चुका तो फिर प्रार्थना कैसी ? इसलिए इस मन्त्र या उपनिषद् में कहीं भी नवीनवेदान्त अथवा अद्वैतवाद की चर्चा नहीं है।

वेद की विशेषता देखिए। ईश्वर की सर्वव्यापकता से अध्याय को आरम्भ किया था और उसी पर समाप्त किया है। हमारे शास्त्रों की परिभाषा में इसे उपक्रम और उपसंहार की एकता कहते हैं और जिस शास्त्र में इस प्रकार की एकता हो वह ग्रन्थ उत्तम माना जाता है।

इसके साथ ईशोपनिषद् का सातवाँ अधिकरण और साथ ही ईशोपनिषद् (यजुर्वेद का चालीसवाँ अध्याय) भी समाप्त हुआ।

□□

Adv. Vidit Chauhan Collection, Noida

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

Adv. Vidit Chauhan Collection, Noida

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

Adv. Vidit Chauhan Collection, Noida